

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें अर्जुनसे कहा कि ज्ञानयोगमें अपने विवेकके अनुसार विचारपूर्वक चलनेसे जिस समबुद्धिकी प्राप्ति होती है, उसीको तू कर्मयोगके विषयमें सुन अर्थात् कर्मयोगमें निष्कामभावपूर्वक परहितार्थ कर्तव्य-कर्म करनेसे यह समबुद्धि कैसे प्राप्त होती है, इसे सुन—‘एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।’ फिर कर्मयोगका वर्णन करते हुए प्रसंगानुसार अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्थितप्रज्ञके लक्षण बताकर अध्यायका विषय समाप्त किया।

तीसरे अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया कि आपके मतमें जब बुद्धि श्रेष्ठ मान्य है, तो फिर आप मुझे घोर कर्म-(युद्ध-) में क्यों लगाते हैं? इसके उत्तरमें भगवान्ने चौथे श्लोकसे उनतीसवें श्लोकतक विविध प्रकारसे कर्तव्य-कर्म करनेकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए सिद्ध किया कि कर्तव्य-कर्म करनेसे ही समबुद्धि प्राप्त होती है। फिर तीसवें श्लोकमें भगवन्निष्ठाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेकी विशेष विधि बताया कि विवेकपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण करके तथा निष्काम, निर्मम और निःसन्ताप होकर शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंको करना चाहिये। कर्तव्य-कर्म करनेकी इस विधिको ‘अपना मत’ कहते हुए भगवान्ने इकतीसवें-बत्तीसवें श्लोकोंमें अन्वय और व्यतिरेक विधिसे अपने इस मतकी पुष्टि की तथा पैंतीसवें श्लोकमें इस विधिके पालनपर विशेष जोर देते हुए कहा कि अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मरना भी श्रेयस्कर है—‘स्वधर्मे निधनं श्रेयः।’ इसपर अर्जुनने छत्तीसवें श्लोकमें प्रश्न किया कि मनुष्य न चाहते हुए भी किससे प्रेरित होकर पाप (अकर्तव्य) कर बैठता है? इसके उत्तरमें भगवान्ने ‘काम’ अर्थात् कामनाको ही सारे पापों, अनर्थोंका हेतु बताकर अन्तमें कामरूप शत्रुको मार डालनेकी आज्ञा दी।

यद्यपि तीसरे अध्यायके सैंतीसवें श्लोकसे भगवान् लगातार उपदेश दे रहे हैं, तथापि तैंतालीसवें श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नका उत्तर समाप्त होनेपर महर्षि वेदव्यासजी तीसरे अध्यायकी समाप्ति कर देते हैं और नया (चौथा) अध्याय आरम्भ कर देते हैं। इससे ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनके प्रश्नका उत्तर समाप्त होनेपर भगवान् कुछ समयके लिये रुक जाते हैं; फिर दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें-अड़तालीसवें श्लोकोंसे जिस कर्मयोगका विषय चल रहा था, उसीको चौथे अध्यायके पहले श्लोकमें ‘इमम्’ पदसे पुनः आरम्भ करते हैं। अतः चौथा अध्याय तीसरे अध्यायका ही परिशिष्ट माना जाता है।

कर्मयोगमें दो बातें मुख्य हैं—१—कर्तव्य-कर्मोंका आचरण और २—कर्तव्य-कर्मोंके विषयमें विशेष जानकारी। अर्जुन कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करना चाहते हैं, इसीलिये तीसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान्से कहते हैं कि आप मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं? अतः तीसरे अध्यायमें तो भगवान् अनेक प्रकारसे कर्तव्य-कर्मोंके आचरणकी आवश्यकतापर विशेष जोर देते हैं और साथ ही कर्मयोगको समझनेकी तात्त्विक बातें भी कहते हैं; परन्तु इस चौथे अध्यायमें कर्मयोगकी तात्त्विक बातोंको समझनेपर विशेष जोर देते हुए कर्तव्य-कर्मोंका पालन करना आवश्यक बताते हैं। तात्पर्य यह है कि तीसरे और चौथे—दोनों ही अध्यायोंमें उपर्युक्त दोनों बातें कही गयी हैं; किन्तु तीसरे अध्यायमें कर्तव्य-कर्मोंके आचरणकी बात मुख्य है और चौथे अध्यायमें कर्तव्य-कर्मोंके विषयमें समझ-(जानकारी-) की बात मुख्य है—‘तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्’ (४। १६)।

जो कर्मयोग अनादि होते हुए भी इस भूमण्डलपर जाननेवाले विशेष पुरुषके न रहनेसे बहुत कालसे लुप्तप्राय हो गया था, उसी कर्मयोगका वर्णन पुनः आरम्भ करते हुए भगवान् पहले तीन श्लोकोंमें कर्मयोगकी परम्परा बताकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुर्इक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

अहम्	= मैंने	विवस्वते	= सूर्यसे	प्राह	= कहा (और)
इमम्	= इस	प्रोक्तवान्	= कहा था। (फिर)	मनुः	= मनुने (अपने पुत्र)
अव्ययम्	= अविनाशी	विवस्वान्	= सूर्यने (अपने पुत्र)	इक्ष्वाकवे	= राजा इक्ष्वाकुसे
योगम्	= योग (कर्मयोग)–को	मनवे	= (वैवस्वत) मनुसे	अब्रवीत्	= कहा।

व्याख्या—‘इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्’— भगवान्ने जिन सूर्य, मनु और इक्ष्वाकु राजाओंका उल्लेख किया है, वे सभी गृहस्थ थे और उन्होंने गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही कर्मयोगके द्वारा परमसिद्धि प्राप्त की थी; अतः यहाँके ‘इमम्, अव्ययम्, योगम्’ पदोंका तात्पर्य पूर्वप्रकरणके अनुसार तथा राजपरम्पराके अनुसार ‘कर्मयोग’ लेना ही उचित प्रतीत होता है।

यद्यपि पुराणोंमें और उपनिषदोंमें भी कर्मयोगका वर्णन आता है, तथापि वह गीतामें वर्णित कर्मयोगके समान सांगोपांग और विस्तृत नहीं है। गीतामें भगवान्ने विविध युक्तियोंसे कर्मयोगका सरल और सांगोपांग विवेचन किया है। कर्मयोगका इतना विशद वर्णन पुराणों और उपनिषदोंमें देखनेमें नहीं आता।

भगवान् नित्य हैं और उनका अंश जीवात्मा भी नित्य है तथा भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध भी नित्य है। अतः भगवत्प्राप्तिके सब मार्ग (योगमार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग आदि) भी नित्य हैं।* यहाँ ‘अव्ययम्’ पदसे भगवान् कर्मयोगकी नित्यताका प्रतिपादन करते हैं।

परमात्माके साथ जीवका स्वतःसिद्ध सम्बन्ध (नित्य-योग) है। जैसे पतिव्रता स्त्रीको पतिकी होनेके लिये करना कुछ नहीं पड़ता; क्योंकि वह पतिकी तो है ही, ऐसे ही साधकको परमात्माका होनेके लिये करना कुछ नहीं है, वह तो परमात्माका है ही; परन्तु अनित्य क्रिया, पदार्थ, घटना आदिके साथ जब वह अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसे ‘नित्ययोग’ अर्थात् परमात्माके साथ अपने नित्यसम्बन्धका अनुभव नहीं होता। अतः उस अनित्यके साथ माने हुए सम्बन्धको मिटानेके लिये कर्मयोगी शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि मिली हुई समस्त वस्तुओंको संसारकी ही

मानकर संसारकी सेवामें लगा देता है। वह मानता है कि जैसे धूलका छोटा-से-छोटा कण भी विशाल पृथ्वीका ही एक अंश है, ऐसे ही यह शरीर भी विशाल ब्रह्माण्डका ही एक अंश है। ऐसा माननेसे ‘कर्म’ तो संसारके लिये होंगे, पर ‘योग’ (नित्ययोग) अपने लिये होगा अर्थात् नित्य-योगका अनुभव हो जायगा।

भगवान् ‘विवस्वते प्रोक्तवान्’ पदोंसे साधकोंको मानो यह लक्ष्य कराते हैं कि जैसे सूर्य सदा चलते ही रहते हैं अर्थात् कर्म करते ही रहते हैं और सबको प्रकाशित करनेपर भी स्वयं निर्लिप्त रहते हैं, ऐसे ही साधकोंको भी प्राप्त परिस्थितिके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मका पालन स्वयं करते रहना चाहिये (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक) और दूसरोंको भी कर्मयोगकी शिक्षा देकर लोकसंग्रह करते रहना चाहिये; पर स्वयं उनसे निर्लिप्त (निष्काम, निर्मम और अनासक्त) रहना चाहिये।

सृष्टिमें सूर्य सबके आदि हैं। सृष्टिकी रचनाके समय भी सूर्य जैसे पूर्वकल्पमें थे, वैसे ही प्रकट हुए—‘सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्’। उन (सबके आदि) सूर्यको भगवान्ने अविनाशी कर्मयोगका उपदेश दिया। इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् सबके आदिगुरु हैं और साथ ही कर्मयोग भी अनादि है। भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि मैं तुम्हें जो कर्मयोगकी बात बता रहा हूँ, वह कोई आजकी नयी बात नहीं है। जो योग सृष्टिके आदिसे अर्थात् सदासे है, उसी योगकी बात मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

प्रश्न—भगवान्ने सृष्टिके आदिकालमें सूर्यको कर्म-योगका उपदेश क्यों दिया ?

उत्तर—(१) सृष्टिके आरम्भमें भगवान्ने सूर्यको ही कर्मयोगका वास्तविक अधिकारी जानकर उन्हें सर्वप्रथम इस

* गीताके आठवें अध्यायमें भगवान्ने शुक्ल और कृष्ण—दोनों गतियोंको भी नित्य बताया है—शुक्लकृष्णो गती ह्येते जगतः शाश्वते मते (गीता ८। २६)।

योगका उपदेश दिया।

(२) सृष्टिमें जो सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, उसे ही उपदेश दिया जाता है; जैसे—ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिमें प्रजाओंको उपदेश दिया (गीता—तीसरे अध्यायका दसवाँ श्लोक)। उपदेश देनेका तात्पर्य है—कर्तव्यका ज्ञान कराना। सृष्टिमें सर्वप्रथम सूर्यकी उत्पत्ति हुई, फिर सूर्यसे समस्त लोक उत्पन्न हुए। सबको उत्पन्न करनेवाले^१ सूर्यको सर्वप्रथम कर्मयोगका उपदेश देनेका अभिप्राय उनसे उत्पन्न सम्पूर्ण सृष्टिको परम्परासे कर्मयोग सुलभ करा देना था।

(३) सूर्य सम्पूर्ण जगत्के नेत्र हैं। उनसे ही सबको ज्ञान प्राप्त होता है एवं उनके उदित होनेपर प्रायः समस्त प्राणी जाग्रत् हो जाते हैं और अपने-अपने कर्मोंमें लग जाते हैं। सूर्यसे ही मनुष्योंमें कर्तव्य-परायणता आती है। सूर्यको सम्पूर्ण जगत्की आत्मा भी कहा गया है—‘सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च’^२ अतः सूर्यको जो उपदेश प्राप्त होगा, वह सम्पूर्ण प्राणियोंको भी स्वतः प्राप्त हो जायगा। इसलिये भगवान्ने सर्वप्रथम सूर्यको ही उपदेश दिया।

वास्तवमें नारायणके रूपमें उपदेश देना और सूर्यके रूपमें उपदेश ग्रहण करना जगन्नाट्यसूत्रधार भगवान्की एक लीला ही समझनी चाहिये, जो संसारके हितके लिये बहुत आवश्यक थी। जिस प्रकार अर्जुन महान् ज्ञानी नर-ऋषिके अवतार थे; परन्तु लोकसंग्रहके लिये उन्हें भी उपदेश लेनेकी आवश्यकता हुई, ठीक उसी प्रकार भगवान्ने स्वयं ज्ञानस्वरूप सूर्यको उपदेश दिया, जिसके फलस्वरूप संसारका महान् उपकार हुआ है, हो रहा है और होता रहेगा।

‘विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्’—

कर्मयोग गृहस्थोंकी खास विद्या है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमोंमें गृहस्थ-आश्रम ही मुख्य है; क्योंकि गृहस्थ-आश्रमसे ही अन्य आश्रम बनते और पलते हैं। मनुष्य गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए ही अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करके सुगमतापूर्वक परमात्मप्राप्ति कर सकता है। उसे परमात्मप्राप्तिके लिये आश्रम बदलनेकी जरूरत नहीं है। भगवान्ने सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंका नाम लेकर यह बताया है कि कल्पके आदिमें गृहस्थोंने ही कर्मयोगकी विद्याको जाना और गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही उन्होंने कामनाओंका नाश करके परमात्म-तत्त्वको प्राप्त किया। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन भी गृहस्थ थे। इसलिये भगवान् अर्जुनके माध्यमसे मानो सम्पूर्ण गृहस्थोंको सावधान (उपदेश) करते हैं कि तुमलोग अपने घरकी विद्या ‘कर्मयोग’ का पालन करके घरमें रहते हुए ही परमात्माको प्राप्त कर सकते हो, तुम्हें दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं है।

गृहस्थ होनेपर भी अर्जुन प्राप्त कर्तव्य-कर्म-(युद्ध-) को छोड़कर भिक्षाके अन्नसे जीविका चलानेको श्रेष्ठ मानते हैं (गीता—दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक) अर्थात् अपने कल्याणके लिये गृहस्थ-आश्रमकी अपेक्षा संन्यास-आश्रमको श्रेष्ठ समझते हैं। इसलिये उपर्युक्त पदोंसे भगवान् मानो यह बताते हैं कि तुम भी राजघरानेके श्रेष्ठ गृहस्थ हो, कर्मयोग तुम्हारे घरकी खास विद्या है, इसलिये इसीका पालन करना तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है। संन्यासीके द्वारा जो परमात्मतत्त्व प्राप्त किया जाता है, वही तत्त्व कर्मयोगी गृहस्थाश्रममें रहकर भी स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। अतः कर्मयोग गृहस्थोंकी तो मुख्य विद्या है, पर संन्यास

१-शास्त्रोंमें सूर्यको ‘सविता’ कहा गया है, जिसका अर्थ है—उत्पन्न करनेवाला। पाश्चात्य विज्ञान भी सूर्यको सम्पूर्ण सृष्टिका कारण मानता है।

२-महाभारतमें सूर्यके प्रति कहा गया है—

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्। त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्॥
त्वं गतिः सर्वसाङ्ख्यानां योगिनां त्वं परायणम्। अनावृतार्गलद्वारं त्वं गतिस्त्वं मुमुक्षताम्॥
त्वया संधार्यते लोकस्त्वया लोकः प्रकाश्यते। त्वया पवित्रीक्रियते निर्व्याजं पाल्यते त्वया॥

(वनपर्व ३। ३६—३८)

‘सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे हुए पुरुषोंके सदाचार (के प्रेरक) हैं।’

‘सम्पूर्ण सांख्ययोगियोंके प्राप्तव्य स्थान भी आप ही हैं। आप ही सब कर्मयोगियोंके आश्रय हैं। आप ही मोक्षके उन्मुक्त द्वार हैं और आप ही मुमुक्षुओंकी गति हैं।’

‘आप ही सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं। आपसे ही यह लोक प्रकाशित होता है। आप ही इसे पवित्र करते हैं और आपके ही द्वारा निःस्वार्थ भावसे इसका पालन किया जाता है।’

आदि अन्य आश्रमवाले भी इसका पालन करके परमात्म-तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही कर्मयोग है। अतः कर्मयोगका पालन किसी भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, देश, काल आदिमें किया जा सकता है।

किसी विद्यामें श्रेष्ठ और प्रभावशाली पुरुषोंका नाम लेनेसे उस विद्याकी महिमा प्रकट होती है, जिससे दूसरे लोग भी वैसा करनेके लिये उत्साहित होते हैं। जिन लोगोंके हृदयमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व है, उनपर ऐश्वर्यशाली राजाओंका अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिये भगवान् सृष्टिके आदिमें होनेवाले सूर्यका तथा मनु आदि प्रभावशाली राजाओंके नाम लेकर कर्मयोगका पालन करनेकी प्रेरणा करते हैं।

विशेष बात

क्रियाओं और पदार्थोंमें राग होनेसे अर्थात् उनके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे कर्मयोग नहीं हो पाता। गृहस्थमें रहते हुए भी सांसारिक भोगोंसे अरुचि (उपरति अथवा कामनाका अभाव) होती है। किसी भी भोगको भोगें, अन्तमें उस भोगसे अरुचि अवश्य उत्पन्न होती है—यह नियम है। आरम्भमें भोगकी जितनी रुचि (कामना) रहती है, भोग भोगते समय वह उतनी नहीं रह जाती, प्रत्युत क्रमशः घटते-घटते समाप्त हो जाती है; जैसे—मिठाई खानेके आरम्भमें उसकी जो रुचि होती है, वह उसे खानेके साथ-साथ घटती चली जाती है और अन्तमें उससे अरुचि हो जाती है। परन्तु मनुष्य भूल यह करता है कि वह उस अरुचिको महत्त्व देकर उसे स्थायी नहीं बनाता। वह अरुचिको ही तृप्ति (फल) मान लेता है। परन्तु वास्तवमें अरुचिमें थकावट अर्थात् भोगनेकी शक्तिका अभाव ही होता है।

जिस रुचि या कामनाका किसी भी समय अभाव होता है, वह रुचि या कामना वास्तवमें स्वयंकी नहीं होती। जिससे कभी भी अरुचि होती है, उससे हमारा वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता। जिससे हमारा वास्तविक सम्बन्ध है, उस सत्-स्वरूप परमात्मतत्त्वकी ओर चलनेमें कभी अरुचि नहीं होती, प्रत्युत रुचि बढ़ती ही जाती है—यहाँतक कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भी 'प्रेम'के रूपमें वह रुचि बढ़ती ही रहती है। 'स्वयं' भी सत्-स्वरूप है, इसलिये अपने अभावकी रुचि भी किसीकी नहीं होती।

कर्म, करण (शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि) और

उपकरण (पदार्थ अर्थात् कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री)—ये तीनों ही उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं, फिर इनसे मिलनेवाला फल कैसे नित्य होगा? वह तो नाशवान् ही होगा। अविनाशीकी प्राप्तिसे जो तृप्ति होती है, वह नाशवान् फलकी प्राप्तिसे कैसे हो सकती है? इसलिये साधकको कर्म, करण और उपकरण—तीनोंसे ही सम्बन्ध-विच्छेद करना है। इनसे सम्बन्ध-विच्छेद तभी होगा, जब साधक अपने लिये कुछ नहीं करेगा, अपने लिये कुछ नहीं चाहेगा और अपना कुछ नहीं मानेगा; प्रत्युत अपने कहलानेवाले कर्म, करण और उपकरण—इन तीनोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये इन्हें संसारका ही मानकर संसारकी ही सेवामें लगा देगा।

कर्म करते हुए भी कर्मयोगीकी कर्मोंमें कामना, ममता और आसक्ति नहीं होती, प्रत्युत उनमें प्रीति और तत्परता होती है। कामना, ममता तथा आसक्ति अपवित्रता करनेवाली हैं और प्रीति तथा तत्परता पवित्रता करनेवाली हैं। कामना, ममता तथा आसक्तिपूर्वक किसी भी कर्मको करनेसे अपना पतन और पदार्थोंका नाश होता है तथा उस कर्मकी बार-बार याद आती है अर्थात् उस कर्मसे सम्बन्ध बना रहता है। परन्तु प्रीति तथा तत्परतापूर्वक कर्म करनेसे अपनी उन्नति और पदार्थोंका सदुपयोग होता है, नाश नहीं; तथा उस कर्मकी पुनः याद भी नहीं आती अर्थात् उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त स्वरूप अथवा परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, वह सुगमतापूर्वक मान सकता है कि जो कुछ मेरे पास है, वह मेरा नहीं है, प्रत्युत किसीसे मिला हुआ है; जैसे—शरीर माता-पितासे मिला है, विद्या-योग्यता गुरुजनोंसे मिली है, इत्यादि। तात्पर्य यह कि एक-दूसरेकी सहायतासे ही सबका जीवन चलता है। धनी-से-धनी व्यक्तिका जीवन भी दूसरेकी सहायताके बिना नहीं चल सकता। हमने किसीसे लिया है तो किसीको देना, किसीकी सहायता करना, सेवा करना हमारा भी परम कर्तव्य है। इसीका नाम कर्मयोग है। इसका पालन मनुष्यमात्र कर सकता है और इसके पालनमें कभी लेशमात्र भी असमर्थता तथा पराधीनता नहीं है।

कर्तव्य उसे कहते हैं, जिसे सुखपूर्वक कर सकते हैं, जिसे अवश्य करना चाहिये अर्थात् जो करनेयोग्य है और

जिसे करनेसे उद्देश्यकी सिद्धि अवश्य होती है। जो नहीं कर सकते, उसे करनेकी जिम्मेवारी किसीपर नहीं है और जिसे नहीं करना चाहिये, उसे करना ही नहीं है। जिसे नहीं करना चाहिये, उसे न करनेसे दो अवस्थाएँ स्वतः आती हैं—निर्विकल्प अवस्था अर्थात् कुछ न करना अथवा जिसे करना चाहिये, उसे करना।

कर्तव्य सदा निष्कामभावसे एवं परहितकी दृष्टिसे किया जाता है। सकामभावसे किया गया कर्म बन्धनकारक होता है, इसलिये उसे करना ही नहीं है। निष्कामभावसे किया जानेवाला कर्म फलकी कामनासे रहित होता है, उद्देश्यसे रहित नहीं। उद्देश्यरहित चेष्टा तो पागलकी होती है। फल और उद्देश्य—दोनोंमें अन्तर होता है। फल उत्पन्न और नष्ट होनेवाला होता है, पर उद्देश्य नित्य होता है। उद्देश्य नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवका होता है, जिसके लिये मनुष्यजन्म हुआ है। अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे उस परमात्माका अनुभव नहीं होता। सकामभाव, प्रमाद, आलस्य आदि रहनेसे अपने कर्तव्यका पालन कठिन प्रतीत होता है।

वास्तवमें कर्तव्य-कर्मका पालन करनेमें परिश्रम नहीं है। कर्तव्य-कर्म सहज, स्वाभाविक होता है; क्योंकि यह स्वधर्म है। परिश्रम तब होता है, जब अहंता, आसक्ति, ममता, कामनासे युक्त होकर अर्थात् 'अपने लिये' कर्म करते हैं। इसलिये भगवान्ने राजस कर्मको परिश्रमयुक्त बताया है (गीता—अठारहवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

जैसे भगवान्के द्वारा प्राणिमात्रका हित होता है, ऐसे ही भगवान्की शक्ति भी प्राणिमात्रके हितमें निरन्तर लगी

हुई है। जिस प्रकार आकाशवाणी-केन्द्रके द्वारा प्रसारित विशेष शक्तियुक्त ध्वनि सब जगह फैल जाती है, पर रेडियोके द्वारा जिस नंबरपर उस ध्वनिसे एकता (सजातीयता) होती है, उस नंबरपर वह ध्वनि पकड़में आ जाती है। इसी प्रकार जब कर्मयोगी स्वार्थभावका त्याग करके केवल संसारमात्रके हितके भावसे ही समस्त कर्म करता है, तब भगवान्की सर्वव्यापी हितैषिणी शक्तिसे उसकी एकता हो जाती है और उसके कर्मोंमें विलक्षणता आ जाती है। भगवान्की शक्तिसे एकता होनेसे उसमें भगवान्की शक्ति ही काम करती है और उस शक्तिके द्वारा ही लोगोंका हित होता है। इसलिये कर्तव्य-कर्म करनेमें न तो कोई बाधा लगती है और न परिश्रमका अनुभव ही होता है।

कर्मयोगमें पराश्रयकी भी आवश्यकता नहीं है। जो परिस्थिति प्राप्त हो जाय, उसीमें कर्मयोगका पालन करना है। कर्मयोगके अनुसार किसीके कार्यमें आवश्यकता पड़नेपर सहायता कर देना 'सेवा' है; जैसे—किसीकी गाड़ी खराब हो गयी और वह उसे धक्का देनेकी कोशिश कर रहा है; अतः हम भी इस काममें उसकी सहायता करें, तो यह 'सेवा' है। जो जानबूझकर कार्यको खोज-खोजकर सेवा करता है, वह कर्म करता है, सेवा नहीं; क्योंकि ऐसा करनेसे उसका उद्देश्य पारमार्थिक न रहकर लौकिक हो जाता है। सेवा वह है, जो परिस्थितिके अनुरूप की जाय। कर्मयोगी न तो परिस्थिति बदलता है और न परिस्थिति ढूँढ़ता है। वह तो प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता है। प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही कर्मयोग है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

परन्तप = हे परन्तप!

एवम् = इस तरह

परम्पराप्राप्तम् = परम्परासे प्राप्त

इमम् = इस कर्मयोगको

राजर्षयः = राजर्षियोंने

विदुः = जाना (परन्तु)

महता = बहुत

कालेन = समय बीत जानेके कारण

सः = वह

योगः = योग

इह = इस मनुष्यलोकमें

नष्टः = लुप्तप्राय हो गया।

व्याख्या—'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः'—सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंने कर्मयोगको भलीभाँति जानकर उसका स्वयं भी आचरण किया और प्रजासे भी वैसा आचरण कराया। इस प्रकार राजर्षियोंमें इस कर्मयोगकी परम्परा चली। यह राजाओं-(क्षत्रियों-) की

खास (निजी) विद्या है, इसलिये प्रत्येक राजाको यह विद्या जाननी चाहिये। इसी प्रकार परिवार, समाज, गाँव आदिके जो मुख्य व्यक्ति हैं, उन्हें भी यह विद्या अवश्य जाननी चाहिये।

प्राचीनकालमें कर्मयोगको जाननेवाले राजालोग राज्यके

भोगोंमें आसक्त हुए बिना सुचारुरूपसे राज्यका संचालन करते थे। प्रजाके हितमें उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती थी। सूर्यवंशी राजाओंके विषयमें महाकवि कालिदास लिखते हैं—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।

सहस्रगुणमुत्त्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

(रघुवंश १।१८)

‘वे राजालोग अपनी प्रजाके हितके लिये प्रजासे उसी प्रकार कर लिया करते थे, जिस प्रकार सहस्रगुना बनाकर बरसानेके लिये ही सूर्य पृथ्वीसे जल लिया करते हैं।’

तात्पर्य यह कि वे राजालोग प्रजासे कर आदिके रूपमें लिये गये धनको प्रजाके ही हितमें लगा देते थे, अपने स्वार्थमें थोड़ा भी खर्च नहीं करते थे। अपने जीवन-निर्वाहके लिये वे अलग खेती आदि काम करवाते थे। कर्मयोगका पालन करनेके कारण उन राजाओंको विलक्षण ज्ञान और भक्ति स्वतः प्राप्त थी। यही कारण था कि प्राचीनकालमें बड़े-बड़े ऋषि भी ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उन राजाओंके पास जाया करते थे। श्रीवेदव्यासजीके पुत्र शुकदेवजी भी ज्ञान-प्राप्तिके लिये राजर्षि जनकके पास गये थे। छान्दोग्योपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें भी आता है कि ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये छः ऋषि एक साथ महाराज अश्वपतिके पास गये थे*।

तीसरे अध्यायके बीसवें श्लोकमें जनक आदि राजाओंको और यहाँ सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजाओंको कर्मयोगी बताकर भगवान् अर्जुनको मानो यह लक्ष्य कराते हैं कि गृहस्थ और क्षत्रिय होनेके नाते तुम्हें भी अपने पूर्वजोंके (वंश-परम्पराके) अनुसार कर्मयोगका पालन अवश्य करना चाहिये (गीता—चौथे अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक)। इसके अलावा अपने वंशकी बात (कर्मयोगकी विद्या) अपनेमें आनी सुगम भी है, इसलिये आनी ही चाहिये।

‘स कालेनेह महता योगो नष्टः’—परमात्मा नित्य हैं और उनकी प्राप्तिके साधन—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि भी परमात्माके द्वारा निश्चित किये होनेसे नित्य हैं। अतः इनका कभी अभाव नहीं होता—‘नाभावो विद्यते

सतः’ (गीता २।१६)। ये आचरणमें आते हुए न दीखनेपर भी नित्य रहते हैं। इसीलिये यहाँ आये ‘नष्टः’ पदका अर्थ लुप्त, अप्रकट होना ही है, अभाव होना नहीं।

पहले श्लोकमें कर्मयोगको ‘अव्ययम्’ अर्थात् अविनाशी कहा गया है। अतः यहाँ ‘नष्टः’ पदका अर्थ यदि कर्मयोगका अभाव माना जाय तो दोनों ओरसे विरोध उत्पन्न होगा कि यदि कर्मयोग अविनाशी है तो उसका अभाव कैसे हो गया? और यदि उसका अभाव हो गया तो वह अविनाशी कैसे? इसके सिवाय आगेके (तीसरे) श्लोकमें भगवान् कर्मयोगको पुनः प्रकट करनेकी बात कहते हैं। यदि उसका अभाव हो गया होता तो पुनः प्रकट नहीं होता। भगवान्के वचनोंमें विरोध भी नहीं आ सकता। इसलिये यहाँ ‘इह नष्टः’ पदोंका तात्पर्य यह है कि इस अविनाशी कर्मयोगके तत्त्वका वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंका और इसके तत्त्वको जाननेवाले तथा उसे आचरणमें लानेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंका इस लोकमें अभाव-सा हो गया है।

जहाँसे जो बात कही जाती है, वहाँसे वह परम्परासे जितनी दूर चली जाती है, उतना ही उसमें स्वतः अन्तर पड़ता चला जाता है—यह नियम है। भगवान् कहते हैं कि कल्पके आदिमें मैंने यह कर्मयोग सूर्यसे कहा था, फिर परम्परासे इसे राजर्षियोंने जाना। अतः इसमें अन्तर पड़ता ही गया और बहुत समय बीत जानेसे अब यह योग इस मनुष्यलोकमें लुप्तप्राय हो गया है। यही कारण है कि वर्तमानमें इस कर्मयोगकी बात सुनने तथा देखनेमें बहुत कम आती है।

कर्मयोगका आचरण लुप्तप्राय होनेपर भी उसका सिद्धान्त (अपने लिये कुछ न करना) सदैव रहता है; क्योंकि इस सिद्धान्तको अपनाये बिना किसी भी योग- (ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि-) का निरन्तर साधन नहीं हो सकता। कर्म तो मनुष्यमात्रको करने ही पड़ते हैं। हाँ, ज्ञानयोगी विवेकके द्वारा कर्मोंको नाशवान् मानकर कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है; और भक्तियोगी कर्मोंको भगवान्के अर्पण करके कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

* उस प्रसंगमें महाराज अश्वपतिके ये वचन ध्यान देने योग्य हैं—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान् स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

(छान्दोग्य० ५।११।५)

‘मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कोई कृपण है, न कोई मद्यप (मदिरा पीनेवाला) है, न कोई अनाहिताग्नि (अग्निहोत्र न करनेवाला) है, न कोई अविद्वान् है और न कोई परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (वेश्या) तो होगी ही कैसे?’

अतः ज्ञानयोगी और भक्तियोगीको कर्मयोगका सिद्धान्त तो अपनाना ही पड़ेगा; भले ही वे कर्मयोगका अनुष्ठान न करें। तात्पर्य यह कि वर्तमानमें कर्मयोग लुप्तप्राय होनेपर भी सिद्धान्तके रूपमें विद्यमान ही है।

वास्तवमें देखा जाय तो कर्मयोगमें 'कर्म' लुप्त नहीं हुए हैं, प्रत्युत (कर्मोंका प्रवाह अपनी ओर होनेसे) 'योग' ही लुप्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि जैसे संसारके पदार्थ कर्म करनेसे मिलते हैं, ऐसे ही परमात्मा भी कर्म करनेसे मिलेंगे—यह बात साधकोंके अन्तःकरणमें इतनी दृढ़तासे बैठ गयी है कि 'परमात्मा नित्यप्राप्त हैं'—इस वास्तविकताकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जा रहा है। 'कर्म' सदैव संसारके लिये होते हैं और 'योग' सदैव अपने लिये होता है। 'योग'के लिये कर्म करना नहीं होता, वह तो स्वतःसिद्ध है।^१ अतः 'योग' के लिये यह मान लेना कि वह कर्म

करनेसे होगा—यही 'योग'का लुप्त होना है।

मनुष्य-शरीर कर्मयोगका पालन करनेके लिये अर्थात् दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा करनेके लिये ही मिला है। परन्तु आज मनुष्य रात-दिन अपनी सुख-सुविधा, सम्मान आदिकी प्राप्तिमें ही लगा हुआ है। स्वार्थके अधिक बढ़ जानेके कारण दूसरोंकी सेवाकी तरफ उसका ध्यान ही नहीं है। इस प्रकार जिसके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे भूल जाना ही कर्मयोगका लुप्त होना है।

मनुष्य सेवाके द्वारा पशु-पक्षीसे लेकर मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि, सन्त-महात्मा और भगवान्तकको अपने वशमें कर सकता है। परन्तु सेवाभावको भूलकर मनुष्य स्वयं भोगोंके वशमें हो गया, जिसका परिणाम नरकोंमें तथा चौरासी लाख योनियोंमें पड़ जाना है। यही कर्मयोगका छिपना है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

मे	= (तू) मेरा	सः, एव	= वही	ते	= तुझसे
भक्तः	= भक्त	अयम्	= यह	प्रोक्तः	= कहा है;
च	= और	पुरातनः	= पुरातन	हि	= क्योंकि
सखा	= (प्रिय) सखा	योगः	= योग	एतत्	= यह
असि	= है,	अद्य	= आज	उत्तमम्	= बड़ा उत्तम
इति	= इसलिये	मया	= मैंने	रहस्यम्	= रहस्य है।

व्याख्या—'भक्तोऽसि मे सखा चेति'—अर्जुन भगवान्को अपना प्रिय सखा पहलेसे ही मानते थे (गीता—ग्यारहवें अध्यायका इकतालीसवाँ-बयालीसवाँ श्लोक), पर भक्त अभी (गीता—दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें) हुए हैं अर्थात् अर्जुन सखा भक्त तो पुराने हैं, पर दास्य भक्त नये हैं। आदेश या उपदेश दास अथवा शिष्यको ही दिया जाता है, सखाको नहीं। अर्जुन जब भगवान्के शरण हुए, तभी भगवान्का उपदेश आरम्भ हुआ।

जो बात सखासे भी नहीं कही जाती, वह बात भी

शरणागत शिष्यके सामने प्रकट कर दी जाती है। अर्जुन भगवान्से कहते हैं कि 'मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।' इसलिये भगवान् अर्जुनके सामने अपने-आपको प्रकट कर देते हैं, रहस्यको खोल देते हैं।

अर्जुनका भगवान्के प्रति बहुत विशेष भाव था, तभी तो उन्होंने वैभव और अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित 'नारायणी सेना' का त्याग करके निःशस्त्र भगवान्को अपने 'सारथि' के रूपमें स्वीकार किया।^२

१-लोकहितार्थ अपने कर्तव्य-(स्वधर्म-) का पालन करनेसे 'योग' सिद्ध होता है; अतः यह 'करना' भी वास्तवमें न करनेके लिये अर्थात् 'करना' समाप्त करनेके लिये ही है—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' (गीता ६। ३)। 'करनेका वेग' निकालनेके लिये ही केवल सेवा-भावसे कर्तव्य-कर्म करने चाहिये। सकामभावसे अर्थात् अपने लिये कर्म करनेसे 'करनेका वेग' बढ़ता है, और दूसरोंके लिये कर्म करनेसे 'करनेका वेग' समाप्त होता है। तात्पर्य यह कि दूसरोंके लिये करनेसे ही 'करना' समाप्त होता है, और अपने लिये करनेसे 'करना' शेष रहता है। 'करना' समाप्त होनेपर स्वतःसिद्ध 'योग'का अनुभव हो जाता है।

२-एवमुक्तस्तु कृष्णो न कुन्तीपुत्रो धनंजयः। अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥

(महाभारत, उद्योग ७। २१)

साधारण लोग भगवान्की दी हुई वस्तुओंको तो अपनी मानते हैं (जो अपनी हैं ही नहीं), पर भगवान्को अपना नहीं मानते (जो वास्तवमें अपने हैं)। वे लोग वैभवशाली भगवान्को न देखकर उनके वैभवको ही देखते हैं। वैभवको ही सच्चा माननेसे उनकी बुद्धि इतनी भ्रष्ट हो जाती है कि वे भगवान्का अभाव ही मान लेते हैं अर्थात् भगवान्की तरफ उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। कुछ लोग वैभवकी प्राप्तिके लिये ही भगवान्का भजन करते हैं। भगवान्को चाहनेसे तो वैभव भी पीछे आ जाता है, पर वैभवको चाहनेसे भगवान् नहीं आ सकते। वैभव तो भक्तके चरणोंमें लोटता है; परन्तु सच्चे भक्त वैभवकी प्राप्तिके लिये भगवान्का भजन नहीं करते। वे वैभवको नहीं चाहते, अपितु भगवान्को ही चाहते हैं। वैभवको चाहनेवाले मनुष्य वैभवके भक्त (दास) होते हैं और भगवान्को चाहनेवाले मनुष्य भगवान्के भक्त होते हैं। अर्जुनने वैभव-(नारायणी सेना-) का त्याग करके केवल भगवान्को अपनाया, तो युद्धक्षेत्रमें भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर आदि महापुरुषोंके रहते हुए भी गीताका महान् दिव्य उपदेश केवल अर्जुनको ही प्राप्त हुआ, और बादमें राज्य भी अर्जुनको मिल गया!

‘स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः’— इन पदोंका यह तात्पर्य नहीं है कि मैंने कर्मयोगको पूर्णतया कह दिया है, प्रत्युत यह तात्पर्य है कि जो कुछ कहा है, वह पूर्ण है। आगे भगवान्के जन्मके विषयमें अर्जुनद्वारा किये गये प्रश्नका उत्तर देकर भगवान्ने पुनः उसी कर्मयोगका वर्णन आरम्भ किया है।

भगवान् कहते हैं कि सृष्टिके आदिमें मैंने सूर्यके प्रति जो कर्मयोग कहा था, वही आज मैंने तुमसे कहा है। बहुत समय बीत जानेपर वह योग अप्रकट हो गया था, और मैं भी अप्रकट ही था। अब मैं भी अवतार लेकर प्रकट हुआ हूँ और योगको भी पुनः प्रकट किया है। अतः अनादिकालसे जो कर्मयोग मनुष्योंको कर्मबन्धनसे मुक्त करता आ रहा है, वह आज भी उन्हें कर्मबन्धनसे मुक्त कर देगा।

‘रहस्यं होतदुत्तमम्’—जिस प्रकार अठारहवें अध्यायके छच्छठवें श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनके सामने ‘सर्वगुह्यतम’ बात प्रकट की कि ‘तू मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा’, उसी प्रकार यहाँ ‘उत्तम रहस्य’

प्रकट करते हैं कि ‘मैंने ही सृष्टिके आदिमें सूर्यको उपदेश दिया था और वही मैं आज तुझे उपदेश दे रहा हूँ’।

भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि तेरा सारथि बनकर तेरी आज्ञाका पालन करनेवाला होकर भी मैं आज तुझे वही उपदेश दे रहा हूँ, जो उपदेश मैंने सृष्टिके आदिमें सूर्यको दिया था। मैं साक्षात् वही हूँ और अभी अवतार लेकर गुप्तरितिसे प्रकट हुआ हूँ—यह बहुत रहस्यकी बात है। इस रहस्यको आज मैं तेरे सामने प्रकट कर रहा हूँ; क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है।

साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है, साधककी दृष्टि भी उपदेशकी ओर अधिक एवं उपदेष्टाकी ओर कम जाती है। इस प्रसंगको पढ़ने-सुननेपर उपदिष्ट ‘योग’ पर तो दृष्टि जाती है, पर उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि नारायण हैं—इसपर प्रायः दृष्टि नहीं जाती। जो बात साधारणतः पकड़में नहीं आती, वह रहस्यकी होती है। भगवान् यहाँ ‘रहस्यम्’ पदसे अपना परिचय देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि साधककी दृष्टि सर्वथा भगवान्की ओर ही रहनी चाहिये।

अपने-आपको ‘आदि उपदेष्टा’ कहकर भगवान् मानो अपनेको मानवमात्रका ‘गुरु’ प्रकट करते हैं। नाटक खेलते समय मनुष्य जनताके सामने अपने असली स्वरूपको प्रकट नहीं करता, पर किसी आत्मीय जनके सामने अपनेको प्रकट भी कर देता है। ऐसे ही मनुष्य-अवतारके समय भी भगवान् अर्जुनके सामने अपना ईश्वरभाव प्रकट कर देते हैं अर्थात् जो बात छिपाकर रखनी चाहिये, वह बात प्रकट कर देते हैं। यही उत्तम रहस्य है।

कर्मयोगको भी उत्तम रहस्य माना जा सकता है। जिन कर्मोंसे जीव बँधता है (**कर्मणा बध्यते जन्तुः**) उन्हीं कर्मोंसे उसकी मुक्ति हो जाय—यह उत्तम रहस्य है। पदार्थोंको अपना मानकर अपने लिये कर्म करनेसे बन्धन होता है, और पदार्थोंको अपना न मानकर (दूसरोंका मानकर) केवल दूसरोंके हितके लिये निःस्वार्थभावपूर्वक सेवा करनेसे मुक्ति होती है। अनुकूलता-प्रतिकूलता, धनवत्ता-निर्धनता, स्वस्थता-रुग्णता आदि कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, प्रत्येक परिस्थितिमें इस कर्मयोगका पालन स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है। कर्मयोगमें रहस्यकी तीन बातें मुख्य हैं—

‘श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार धनंजयने संग्रामभूमिमें (अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित एक अक्षौहिणी नारायणी सेनाको छोड़कर) युद्ध न करनेवाले निःशस्त्र उन भगवान् श्रीकृष्णको ही (अपना सहायक) चुना।’

(१) मेरा कुछ नहीं है। कारण कि मेरा स्वरूप सत् (अविनाशी) है और जो कुछ मिला है, वह सब असत् (नाशवान्) है, फिर असत् मेरा कैसे हो सकता है? अनित्यका नित्यके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

(२) मेरे लिये कुछ नहीं चाहिये। कारण कि स्वरूप- (सत्-) में कभी अपूर्ति या कमी होती ही नहीं, फिर किस वस्तुकी कामना की जाय? अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्वके लिये उत्पन्न होनेवाली नाशवान् वस्तु कैसे काममें आ सकती है?

(३) अपने लिये कुछ नहीं करना है। इसमें पहला कारण यह है कि स्वयं चेतन परमात्माका अंश है और कर्म जड है। स्वयं नित्य-निरन्तर रहता है, पर कर्मका तथा उसके फलका आदि और अन्त होता है। इसलिये अपने लिये कर्म करनेसे आदि-अन्तवाले कर्म और फलसे अपना सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म और फलका तो अन्त हो जाता है, पर उनका संग भीतर रह जाता है, जो जन्म-मरणका कारण होता है—‘कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ (गीता १३।२१)।

दूसरा कारण यह है कि ‘करने’ का दायित्व उसीपर आता है, जो कर सकता है अर्थात् जिसमें करनेकी योग्यता है और जो कुछ पाना चाहता है। निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिवर्तनशील और पूर्ण होनेके कारण चेतन स्वरूप शरीरके सम्बन्धके बिना कुछ कर ही नहीं सकता, इसलिये यह विधान मानना पड़ेगा कि स्वरूपको अपने लिये कुछ नहीं करना है।

तीसरा कारण यह है कि स्वरूप सत् है और पूर्ण है; अतः उसमें कभी कमी आती ही नहीं, आनेकी सम्भावना भी नहीं—‘नाभावो विद्यते सतः’ (गीता २।१६)। कमी न आनेके कारण उसमें कुछ पानेकी इच्छा भी नहीं होती। इससे स्वतः सिद्ध होता है कि स्वरूपपर ‘करने’ का दायित्व नहीं है अर्थात् उसे अपने लिये कुछ नहीं करना है।

कर्मयोगमें ‘कर्म’ तो संसारके लिये होते हैं और ‘योग’ अपने लिये होता है। परन्तु अपने लिये कर्म करनेसे ‘योग’का अनुभव नहीं होता। ‘योग’का अनुभव तभी होगा, जब कर्मोंका प्रवाह पूरा-का-पूरा संसारकी ओर ही हो जाय। कारण कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, धन, सम्पत्ति आदि जो कुछ भी हमारे पास है, वह सब-का-सब संसारसे अभिन्न है, संसारका ही है और उन्हें

संसारकी सेवामें ही लगाना है। अतः पदार्थ और क्रियारूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही दूसरोंके लिये कर्म करना है। यही कर्मयोग है। कर्मयोग सिद्ध होनेपर करनेका राग, पानेकी लालसा, जीनेकी इच्छा और मरनेका भय—ये सब मिट जाते हैं।

जैसे सूर्यके प्रकाशमें लोग अनेक कर्म करते हैं, पर सूर्यका उन कर्मोंसे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही ‘स्वयं’-(चेतन-)के प्रकाशमें सम्पूर्ण कर्म होते हैं, पर ‘स्वयं’का उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता; क्योंकि ‘स्वयं’ चेतन तथा अपरिवर्तनशील है और कर्म जड तथा परिवर्तनशील हैं। परन्तु जब ‘स्वयं’ भूलसे उन पदार्थों और कर्मोंके साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध मान लेता है, अर्थात् उन्हें अपने और अपने लिये मान लेता है, तो फिर वे कर्म अवश्य ही उसे बाँध देते हैं।

नियत-कर्मका किसी भी अवस्थामें त्याग न करना तथा नियत समयपर कार्यके लिये तत्पर रहना भी सूर्यकी अपनी विलक्षणता है। कर्मयोगी भी सूर्यकी तरह अपने नियत-कर्मोंको नियत समयपर करनेके लिये सदा तत्पर रहता है।

कर्मयोगका ठीक-ठीक पालन किया जाय तो यदि कर्मयोगीमें ज्ञानके संस्कार हैं तो उसे ज्ञानकी प्राप्ति, और यदि भक्तिके संस्कार हैं तो उसे भक्तिकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। कर्मयोगका पालन करनेसे अपना ही नहीं, प्रत्युत संसारमात्रका भी परम हित होता है। दूसरे लोग देखें या न देखें, समझें या न समझें, मानें या न मानें, अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे दूसरे लोगोंको कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा स्वतः मिलती है और इस प्रकार सबकी सेवा भी हो जाती है।

मार्मिक बात

गीतामें भगवान्ने उपदेशके आरम्भमें दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक मनुष्यमात्रके अनुभव- (विवेक-) का वर्णन किया है। यह मनुष्यमात्रका ही अनुभव नहीं है, प्रत्युत जीवमात्रका भी अनुभव है; कारण कि ‘मैं हूँ’—ऐसे अपनी सत्ता-(होनेपन-) का अनुभव स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंको है। वृक्ष, पर्वत आदिको भी इसका अनुभव है, पर वे इसे व्यक्त नहीं कर सकते। पशु-पक्षियोंमें तो प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है; जैसे— पशु-पक्षी आपसमें लड़ते हैं तो अपनी सत्ताको लेकर ही लड़ते हैं। यदि अपनी अलग सत्ताका अनुभव न हो तो वे

लड़ें ही क्यों? मनुष्यको तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव है ही; परन्तु वह न तो अपने अनुभवकी ओर दृष्टि डालता है और न उसका आदर ही करता है। इस अनुभवको ही विवेक या निज-ज्ञान कहते हैं। यह विवेक सबमें स्वतः है और भगवत्प्रदत्त है।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं, इसलिये इनसे होनेवाला ज्ञान प्रकृतिजन्य है। शास्त्रोंको पढ़-सुनकर इन इन्द्रियों-मन-बुद्धिके द्वारा जो पारमार्थिक ज्ञान होता है, वह ज्ञान भी एक प्रकारसे प्रकृतिजन्य ही है। परमात्मतत्त्व इस प्रकृतिजन्य ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है। अतः परमात्मतत्त्वको निज-ज्ञान (स्वयंसे होनेवाले ज्ञान-) से ही जाना जा सकता है। निज-ज्ञान अर्थात् विवेकको महत्त्व देने से 'मैं कौन हूँ? मेरा क्या है? जड़ और चेतन क्या हैं? प्रकृति और परमात्मा क्या हैं?'—यह सब जाननेकी शक्ति आ जाती है। यही विवेक कर्मयोगमें भी काम आता है— यह मार्मिक बात है।

कर्मयोगमें विवेककी दो बातें मुख्य हैं—(१) अपने होनेपन-('मैं हूँ'-) में कोई संदेह नहीं है और (२) अभी जो वस्तुएँ मिली हुई हैं, उनपर अपना कोई आधिपत्य नहीं है; क्योंकि वे पहले अपनी नहीं थीं और बादमें भी अपनी नहीं रहेंगी। मैं (स्वयं) निरन्तर रहता हूँ और ये मिली हुई वस्तुएँ—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि निरन्तर बदलती रहती हैं और इनका निरन्तर वियोग होता रहता है। जैसे कर्मोंका आरम्भ और समाप्ति होती है, ऐसे ही उनके फलका भी संयोग और वियोग होता है। इसलिये कर्मों और पदार्थोंका सम्बन्ध संसारसे है, स्वयंसे नहीं। इस प्रकार विवेक जाग्रत् होते ही कामनाका नाश हो जाता है। कामनाका नाश होनेपर स्वतःसिद्ध निष्कामता प्रकट हो जाती है अर्थात् कर्मयोग पूर्णतः सिद्ध हो जाता है।

कामनासे विवेक ढक जाता है (गीता—तीसरे अध्यायका अड़तीसवाँ-उनतालीसवाँ श्लोक)। स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, संग्रह-बुद्धि रखनेसे मनुष्य अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता। वह उलझनोंको उलझनसे ही अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे ही सुलझना चाहता है और इसीलिये वह वर्तमान परिस्थितिको बदलनेका ही उद्योग करता है। परन्तु परिस्थितिको बदलना अपने वशकी बात नहीं है, इसलिये उलझन सुलझनेकी अपेक्षा

अधिकाधिक उलझती चली जाती है। विवेक जाग्रत् होनेपर जब स्वार्थ-बुद्धि, भोग-बुद्धि, संग्रह-बुद्धि नहीं रहती, तब अपना कर्तव्य स्पष्ट दीखने लग जाता है और सभी प्रकारकी उलझनें स्वतः सुलझ जाती हैं।

बाहरी परिस्थिति कर्मोंके अनुसार ही बनती है अर्थात् वह कर्मोंका ही फल है। धनवत्ता-निर्धनता, निन्दा-स्तुति, आदर-निरादर, यश-अपयश, लाभ-हानि, जन्म-मरण, स्वस्थता-रुग्णता आदि सभी परिस्थितियाँ कर्मोंके अधीन हैं*। शुभ और अशुभ कर्मोंके फलस्वरूपमें अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति सामने आती रहती है; परन्तु उस परिस्थितिसे सम्बन्ध जोड़कर—उसे अपनी मानकर सुखी-दुःखी होना मूर्खता है। तात्पर्य यह है कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका आना तो कर्मोंका फल है, और उससे सुखी-दुःखी होना अपनी अज्ञता—मूर्खताका फल है। कर्मोंका फल मिटाना तो हाथकी बात नहीं है, पर मूर्खता मिटाना बिलकुल हाथकी बात है। जिसे मिटा सकते हैं, उस मूर्खताको तो मिटाते नहीं और जिसे बदल सकते नहीं, उस परिस्थितिको बदलनेका उद्योग करते हैं—यह महान् भूल है! इसलिये अपने विवेकको महत्त्व देकर मूर्खताको मिटा देना चाहिये और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंका सदुपयोग करते हुए उनसे ऊँचे उठ जाना अर्थात् असंग हो जाना चाहिये। जो किसी भी परिस्थितिसे सम्बन्ध न जोड़कर उसका सदुपयोग करता है अर्थात् अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करता है तथा प्रतिकूल परिस्थितिमें दुःखी नहीं होता अर्थात् सुखकी इच्छा नहीं करता, वह संसार-बन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है।

जिसे मनुष्य नहीं चाहता, वह प्रतिकूल परिस्थिति पहले किये अशुभ-(पाप-) कर्मोंका फल होती है। अतः पाप-कर्म तो करने ही नहीं चाहिये। किसीको कष्ट पहुँचे, ऐसा काम तो स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिये। परन्तु वर्तमानमें (नये) पाप-कर्म न करनेपर भी पुराने पाप-कर्मोंके फलस्वरूप जब प्रतिकूल परिस्थिति आ जाती है, तब अन्तःकरणमें चिन्ता, शोक, भय आदि भी आ जाते हैं। इसका कारण यह है कि हमने चिन्ता-शोकको अधिक परिचित बना लिया है। जैसे बिक्री की हुई गाय पुराने स्थानसे परिचित होनेके कारण बार-बार वहीं आ जाती है।

* सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥

परन्तु उसे बार-बार नये स्थानपर पहुँचा दिया जाय, तो फिर वह पुराने स्थानपर आना छोड़ देती है। ऐसे ही आज और अभी यह दृढ़ विचार कर लें कि आने-जानेवाली परिस्थितिसे सम्बन्ध जोड़कर चिन्ता-शोक करना गलती है, यह गलती अब हम नहीं करेंगे, तो फिर ये चिन्ता-शोक आना छोड़ देंगे।

विवेककी पूर्ण जागृति न होनेपर भी कर्मयोगीमें एक निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है कि जो अपना नहीं है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है और सांसारिक सुखोंको न भोगकर केवल सेवा करनी है। इस निश्चयात्मिका बुद्धिके

कारण उसके अन्तःकरणमें सांसारिक सुखोंका महत्त्व नहीं रहता। फिर 'भोगोंमें सुख है'—ऐसे भ्रममें उसे कोई डाल नहीं सकता। अतः इस एक निश्चयको अटल रखनेसे ही उसका कल्याण हो जाता है। सत्संग-स्वाध्यायसे ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धिको बल मिलता है। अतः हरेक साधकको कम-से-कम ऐसा कल्याणकारी निश्चय अवश्य ही बना लेना चाहिये। ऐसा निश्चय बनानेमें सब स्वाधीन हैं, कोई पराधीन नहीं है। इसमें किसीकी किंचित् भी सहायताकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इसमें स्वयं बलवान् है।

सम्बन्ध—मैंने ही सृष्टिके आदिमें सूर्यको उपदेश दिया था और वही मैं आज तुझे उपदेश दे रहा हूँ—इसे सुनकर अर्जुनमें स्वाभाविक यह जिज्ञासा जाग्रत् होती है कि जो अभी मेरे सामने बैठे हैं, इन भगवान् श्रीकृष्णने सृष्टिके आरम्भमें सूर्यको उपदेश कैसे दिया था? अतः इसे अच्छी तरह समझनेके लिये अर्जुन आगेके श्लोकमें भगवान्से प्रश्न करते हैं।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन बोले—

भवतः	= आपका	परम्	= बहुत पुराना है;	एतत्	= यह योग
जन्म	= जन्म (तो)		(अतः)	प्रोक्तवान्	= कहा था—
अपरम्	= अभीका है (और)	त्वम्	= आपने (ही)	इति	= यह बात (मैं)
विवस्वतः	= सूर्यका	आदौ	= सृष्टिके आरम्भमें	कथम्	= कैसे
जन्म	= जन्म		(सूर्यसे)	विजानीयाम्	= समझूँ?

व्याख्या—'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः'—आपका जन्म तो अभी कुछ वर्ष पूर्व श्रीवसुदेवजीके घर हुआ है, पर सूर्यका जन्म सृष्टिके आरम्भमें हुआ था। अतः आपने सूर्यको कर्मयोग कैसे कहा था?

अर्जुनके इस प्रश्नमें तर्क या आक्षेप नहीं है, प्रत्युत जिज्ञासा है। वे भगवान्के जन्म-सम्बन्धी रहस्यको सुगमतापूर्वक समझनेकी दृष्टिसे ही प्रश्न करते हैं; क्योंकि अपने जन्म-सम्बन्धी रहस्यको प्रकट करनेमें भगवान् ही सर्वथा समर्थ हैं।

'कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति'—मैं आपको सृष्टिके आदिमें उपदेश देनेवाला कैसे जानूँ?

अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य यह है कि सूर्यको उपदेश देनेके बादसे सूर्यवंशकी (मनु, इक्ष्वाकु आदि) कई पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं और आपका अवतार अभीका है; अतः आपने सृष्टिके आदिमें सूर्यको उपदेश कैसे दिया था—यह बात मैं अच्छी तरह समझना चाहता हूँ। सूर्य तो अभी भी है, इसलिये उसे अभी भी उपदेश दिया जा सकता है। परन्तु आपने सूर्यको उपदेश देनेके बाद सूर्यवंशकी परम्पराका भी वर्णन किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि आपने सूर्यको उपदेश अभी नहीं दिया है। अतः आपने सूर्यको कल्पके आदिमें कैसे उपदेश दिया था?

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें अपना अवतार-रहस्य प्रकट करनेके लिये भगवान् पहले अपनी सर्वज्ञताका दिग्दर्शन करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—

परन्तप	= हे परन्तप	बहूनि	= बहुत-से	अहम्	= मैं
अर्जुन	= अर्जुन!	जन्मानि	= जन्म	वेद	= जानता हूँ, (पर)
मे	= मेरे	व्यतीतानि	= हो चुके हैं।	त्वम्	= तू
च	= और	तानि	= उन	न	= नहीं
तव	= तेरे	सर्वाणि	= सबको	वेत्थ	= जानता।

व्याख्या—[तीसरे श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको अपना भक्त और प्रिय सखा कहा था, इसलिये पीछेके श्लोकमें अर्जुन अपने हृदयकी बात निःसंकोच होकर पूछते हैं। अर्जुनमें भगवान्के जन्म-रहस्यको जाननेकी प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, इसलिये भगवान् उनके सामने मित्रताके नाते अपने जन्मका रहस्य प्रकट कर देते हैं। यह नियम है कि श्रोताकी प्रबल जिज्ञासा होनेपर वक्ता अपनेको छिपाकर नहीं रख सकता। इसलिये सन्त-महात्मा भी अपनेमें विशेष श्रद्धा रखनेवालोंके सामने अपने-आपको प्रकट कर सकते हैं*—]

गूढं तत्त्व न साधु दुरावहिं।

आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥

(मानस १। ११०। १)

‘बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन’— समय-समयपर मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। परन्तु मेरा जन्म और तरहका है (जिसका वर्णन आगे छोटे श्लोकमें करेंगे) और तेरा (जीवका) जन्म और तरहका है (जिसका वर्णन आठवें अध्यायके उन्नीसवें और तेरहवें अध्यायके इक्कीसवें एवं छब्बीसवें श्लोकमें करेंगे)। तात्पर्य यह कि मेरे और तेरे बहुत-से जन्म होनेपर भी वे अलग-अलग प्रकारके हैं।

दूसरे अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा था कि मैं (भगवान्) और तू तथा ये राजालोग (जीव) पहले नहीं थे और आगे नहीं रहेंगे—ऐसा नहीं है। तात्पर्य यह कि भगवान् और उनका अंश जीवात्मा— दोनों ही अनादि और नित्य हैं।

‘तान्यहं वेद सर्वाणि’—संसारमें ऐसे ‘जातिस्मर’ जीव भी होते हैं, जिनको अपने पूर्वजन्मोंका ज्ञान होता है। ऐसे महापुरुष ‘युंजान योगी’ कहलाते हैं, जो साधना करके सिद्ध होते हैं। साधनामें अभ्यास करते-करते इनकी वृत्ति इतनी तेज हो जाती है कि ये जहाँ वृत्ति लगाते हैं, वहींका ज्ञान इनको हो जाता है। ऐसे योगी कुछ सीमातक ही अपने पुराने जन्मोंको जान सकते हैं, सम्पूर्ण जन्मोंको नहीं। इसके विपरीत भगवान् ‘युक्तयोगी’ कहलाते हैं, जो साधना किये बिना स्वतःसिद्ध, नित्य योगी हैं। जन्मोंको जाननेके लिये उन्हें वृत्ति नहीं लगानी पड़ती, प्रत्युत उनमें अपने और जीवोंके भी सम्पूर्ण जन्मोंका स्वतः-स्वाभाविक ज्ञान सदा बना रहता है। उनके ज्ञानमें भूत, भविष्य और वर्तमानका भेद नहीं है, प्रत्युत उनके अखण्ड ज्ञानमें सभी कुछ सदा वर्तमान ही रहता है (गीता ७। २६)। कारण कि भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें पूर्णरूपसे विद्यमान रहते हुए भी इनसे सर्वथा अतीत रहते हैं।

[‘मैं उन सबको जानता हूँ’—भगवान्के इस वचनसे साधकोंको एक विशेष आनन्द आना चाहिये कि हम भगवान्की जानकारीमें हैं, भगवान् हमें निरन्तर देख रहे हैं! हम कैसे ही क्यों न हों, पर हैं भगवान्के ज्ञानमें।]

‘न त्वं वेत्थ परन्तप’—जन्मोंको न जाननेमें मूल हेतु है—अन्तःकरणमें नाशवान् पदार्थोंका आकर्षण, महत्त्व होना। इसीके कारण मनुष्यका ज्ञान विकसित नहीं होता। अर्जुनके अन्तःकरणमें नाशवान् पदार्थोंका, व्यक्तियोंका महत्त्व था, इसीलिये वे कुटुम्बियोंके मरनेके भयसे युद्ध नहीं

* सन्त-महात्मा भी स्वयं छिपे रहते हैं और सबके सामने प्रकट नहीं होते। परन्तु निम्नलिखित तीन अवसरोंपर वे अपने-आपको प्रकट कर देते हैं—

१—जब कोई अत्यधिक श्रद्धालु सामने आ जाय और उसमें उन्हें (सन्त-महात्माको) जाननेकी उत्कट अभिलाषा हो।

२—जब अपने किसी प्रेमीका शरीर छूटनेवाला हो।

३—जब सन्त-महात्माका अपना कहलानेवाला शरीर छूट रहा हो।

दूसरे और तीसरे अवसरपर सन्त-महात्मा उस व्यक्तिके सामने भी अपने-आपको प्रकट कर देते हैं, जिसमें उतनी अधिक श्रद्धा तो नहीं है, पर वह उन सन्त-महात्माका हृदयसे आदर करता है और उन्हें जानना चाहता है।

करना चाहते थे। पहले अध्यायके तैंतीसवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि जिनके लिये हमारी राज्य, भोग और सुखकी इच्छा है, वे ही ये कुटुम्बी प्राणोंकी और धनकी आशा छोड़कर युद्धमें खड़े हैं—इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन राज्य, भोग और सुख चाहते थे। अतः नाशवान् पदार्थोंकी कामना होनेके कारण वे अपने पूर्वजन्मोंको नहीं जानते थे।

ममता-आसक्तिपूर्वक अपने सुखभोग और आरामके लिये धनादि पदार्थोंका संग्रह करना 'परिग्रह' कहलाता है। परिग्रहका सर्वथा त्याग करना अर्थात् अपने सुख, आराम आदिके लिये किसी भी वस्तुका संग्रह न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। अपरिग्रहकी दृढ़ता होनेपर पूर्वजन्मोंका ज्ञान हो जाता है—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ।

(पातंजलयोगदर्शन २। ३९)

संसार (क्रिया और पदार्थ) सदैव परिवर्तनशील और असत् है; अतः उसमें अभाव (कमी) होना निश्चित है। अभावरूप संसारसे सम्बन्ध जोड़नेके कारण मनुष्यको अपनेमें भी अभाव दीखने लग जाता है। अभाव दीखनेके कारण उसमें यह कामना पैदा हो जाती है कि अभावकी तो पूर्ति हो जाय, फिर नया और मिले। इस कामनाकी पूर्तिमें ही वह दिन-रात लगा रहता है। परन्तु कामनाकी पूर्ति होनेवाली है नहीं। कामनाओंके कारण मनुष्य बेहोश-सा हो जाता है। अतः ऐसे मनुष्यको अनेक जन्मोंका ज्ञान तो दूर रहा, वर्तमान कर्तव्यका भी ज्ञान (क्या कर रहा हूँ और क्या करना चाहिये) नहीं होता।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। अब आगेके श्लोकमें भगवान् अपने जन्म-(अवतार-) की विलक्षणता बताते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अजः	= (मैं) अजन्मा (और)	भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंका	प्रकृतिम्	= प्रकृतिको
अव्ययात्मा	= अविनाशी-स्वरूप	ईश्वरः	= ईश्वर	अधिष्ठाय	= अधीन करके
सन्	= होते हुए	सन्	= होते हुए	आत्ममायया	= अपनी योगमायासे
अपि	= भी (तथा)	अपि	= भी	सम्भवामि	= प्रकट होता हूँ।
		स्वाम्	= अपनी		

व्याख्या—[यह छठा श्लोक है और इसमें छः बातोंका ही वर्णन हुआ है। अज, अव्यय और ईश्वर—ये तीन बातें भगवान्की हैं*]; प्रकृति और योगमाया—ये दो बातें भगवान्की शक्तिकी हैं और एक बात भगवान्के प्रकट

* गीतामें भगवान्ने अपने अज, अव्यय और ईश्वर—इन तीनों रूपोंको जानने और न जाननेकी बात कही है; जैसे—

१- 'अज'-स्वरूपको जाननेकी बात—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् । असम्पूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ (१०। ३)

न जाननेकी बात—

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ (७। २५)

२- 'अव्यय'-स्वरूपको जाननेकी बात—

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९। १३)

न जाननेकी बात—

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (७। २४)

३- 'ईश्वर'-स्वरूपको जाननेकी बात—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ (५। २९)

न जाननेकी बात—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ (९। ११)

होनेकी है।]

‘अजोऽपि सन्नव्ययात्मा’—इन पदोंसे भगवान् यह बताते हैं कि साधारण मनुष्योंकी तरह न तो मेरा जन्म है और न मेरा मरण ही है। मनुष्य जन्म लेते हैं और मर जाते हैं; परन्तु मैं ‘अजन्मा’ होते हुए भी प्रकट हो जाता हूँ और ‘अविनाशी’ होते हुए भी अन्तर्धान हो जाता हूँ। प्रकट होना और अन्तर्धान होना—दोनों ही मेरी अलौकिक लीलाएँ हैं।

सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट (अव्यक्त) थे और मरनेके बाद भी अप्रकट (अव्यक्त) हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट (व्यक्त) हैं (गीता—दूसरे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)। परन्तु भगवान् सूर्यकी तरह सदा ही प्रकट रहते हैं। तात्पर्य है कि जैसे सूर्य उदय होनेसे पहले भी ज्यों-का-त्यों रहता है और अस्त होनेके बाद भी ज्यों-का-त्यों रहता है अर्थात् सूर्य तो सदा ही रहता है; किन्तु स्थानविशेषके लोगोंकी दृष्टिमें उसका उदय और अस्त होना दीखता है। ऐसे ही भगवान्का प्रकट होना और अन्तर्धान होना लोगोंकी दृष्टिमें है, वास्तवमें भगवान् सदा ही प्रकट रहते हैं।

दूसरे प्राणी जैसे कर्मोंके परतन्त्र होकर जन्म लेते हैं, भगवान्का जन्म वैसे नहीं होता। कर्मोंकी परतन्त्रतासे जन्म होनेपर दो बातें होती हैं—आयु और सुख-दुःखका भोग। भगवान्में ये दोनों ही नहीं होते।

दूसरे लोग जन्मते हैं तो शरीर पहले बालक होता है, फिर बड़ा होकर युवा हो जाता है, फिर वृद्ध हो जाता है और फिर मर जाता है। परन्तु भगवान्में ये परिवर्तन नहीं होते। वे अवतार लेकर बाललीला करते हैं और किशोर-अवस्था (पंद्रह वर्षकी अवस्था) तक बढ़नेकी लीला करते हैं। किशोर-अवस्थातक पहुँचनेके बाद फिर वे नित्य किशोर ही रहते हैं। सैकड़ों वर्ष बीतनेपर भी भगवान् वैसे ही सुन्दर-स्वरूप रहते हैं। इसीलिये भगवान्के जितने चित्र बनाये जाते हैं, उसमें उनकी दाढ़ी-मूँछें नहीं होतीं (अब कोई बना दे तो अलग बात है!)। इस प्रकार दूसरे प्राणियोंकी तरह न तो भगवान्का जन्म होता है, न परिवर्तन होता है और न मृत्यु ही होती है।

‘भूतानामीश्वरोऽपि सन्’—प्राणिमात्रके एकमात्र ईश्वर

(महान् शासक) रहते हुए ही भगवान् अवतारके समय छोटे-से बालक बन जाते हैं; परन्तु बालक बन जानेपर भी उनके ईश्वरभाव (शासकत्व)—में कोई कमी नहीं आती; जैसे—भगवान् श्रीकृष्णने छठीके दिन ही पूतना राक्षसीको मार दिया। पूतनाका शरीर ढाई योजनका और महान् भयंकर था। यदि उनमें ईश्वरभाव न होता तो छठीके दिन पूतनाको कैसे मार देते? भगवान्ने तीन महीनेकी अवस्थामें शकटासुरको, एक वर्षकी अवस्थामें तृणावर्तको और पाँच वर्षकी अवस्थामें अघासुरको मार दिया। इस तरह भगवान्ने बाल्यावस्थामें ही अनेक राक्षसोंको मार दिया। सात वर्षकी अवस्थामें ही उन्होंने गोवर्धन पर्वतको एक अँगुलीपर उठा लिया!

सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी भगवान् अवतारके समय छोटे-से-छोटे बन जाते हैं और छोटा-सा-छोटा काम भी कर देते हैं। वास्तवमें यही भगवान्की भगवत्ता है। भगवान् अर्जुनके घोड़े हाँकते हैं और उनकी आज्ञाका पालन करते हैं, फिर भी भगवान्का अर्जुनपर और दूसरे प्राणियोंपर ईश्वरभाव वैसे-का-वैसा ही है। सारथि होनेपर भी वे अर्जुनको गीताका महान् उपदेश देते हैं। भगवान् श्रीराम पिता दशरथकी आज्ञाको टालते नहीं और चौदह वर्षके लिये वनमें चले जाते हैं, फिर भी भगवान्का दशरथपर और दूसरे प्राणियोंपर ईश्वरभाव वैसे-का-वैसा ही है।

‘प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय’—जो सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे अलग है, वह भगवान्की शुद्ध प्रकृति है। यह शुद्ध प्रकृति भगवान्का स्वकीय सच्चिदानन्दघनस्वरूप है। इसीको संधिनी-शक्ति, संवित्-शक्ति और आह्लादिनी-शक्ति कहते हैं^१। इसीको चिन्मयशक्ति, कृपाशक्ति आदि नामोंसे कहते हैं। श्रीराधाजी^२, श्रीसीताजी आदि भी यही हैं। भगवान्को प्राप्त करानेवाली ‘भक्ति’ और ‘ब्रह्मविद्या’ भी यही है।

प्रकृति भगवान्की शक्ति है। जैसे, अग्निमें दो शक्तियाँ रहती हैं—प्रकाशिका और दाहिका। प्रकाशिका-शक्ति अन्धकारको दूर करके प्रकाश कर देती है तथा भय भी मिटाती है। दाहिका-शक्ति जला देती है तथा वस्तुको पकाती एवं ठण्डक भी दूर करती है। ये दोनों शक्तियाँ

१-संधिनी-शक्ति ‘सत्’-स्वरूपा, संवित्-शक्ति ‘चित्’-स्वरूपा और आह्लादिनी-शक्ति ‘आनन्द’-स्वरूपा है।

२-अवतारके समय भगवान् अपनी शुद्ध प्रकृतिरूप शक्तियोंसहित अवतरित होते हैं और अवतार-कालमें इन शक्तियोंसे काम लेते हैं। श्रीराधाजी भगवान्की शक्ति हैं और उनकी अनुगामिनी अनेक सखियाँ हैं, जो सब भक्तिरूपा हैं और भक्ति प्रदान करनेवाली हैं। भक्तिरहित मनुष्य इनको नहीं जान सकते। इनको भगवान् और राधाजीकी कृपासे ही जान सकते हैं।

अग्निसे भिन्न भी नहीं हैं और अभिन्न भी नहीं हैं। भिन्न इसलिये नहीं हैं कि वे अग्निरूप ही हैं अर्थात् उन्हें अग्निसे अलग नहीं किया जा सकता, और अभिन्न इसलिये नहीं हैं कि अग्निके रहते हुए भी मन्त्र, औषध आदिसे अग्निकी दाहिका-शक्ति कुण्ठित की जा सकती है। ऐसे ही भगवान्‌में जो शक्ति रहती है, उसे भगवान्‌से भिन्न और अभिन्न—दोनों ही नहीं कह सकते।

जैसे दियासलाईमें अग्निकी सत्ता तो सदा रहती है, पर उसकी प्रकाशिका और दाहिका-शक्ति छिपी हुई रहती है; ऐसे ही भगवान् सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें सदा रहते हैं, पर उनकी शक्ति छिपी हुई रहती है। उस शक्तिको अधिष्ठित करके अर्थात् अपने वशमें करके, उसके द्वारा भगवान् प्रकट होते हैं। जैसे, जबतक अग्नि अपनी प्रकाशिका और दाहिका-शक्तिको लेकर प्रकट नहीं होती, तबतक सदा रहते हुए भी अग्नि नहीं दीखती, ऐसे ही जबतक भगवान् अपनी शक्तिको लेकर प्रकट नहीं होते, तबतक भगवान् हरदम रहते हुए भी नहीं दीखते।

राधाजी, सीताजी, रुक्मिणीजी आदि सब भगवान्‌की निजी दिव्य शक्तियाँ हैं। भगवान् सामान्यरूपसे सब जगह रहते हुए भी कोई काम नहीं करते। जब करते हैं, तब अपनी दिव्य शक्तिको लेकर ही करते हैं। उस दिव्य शक्तिके द्वारा भगवान् विचित्र-विचित्र लीलाएँ करते हैं। उनकी लीलाएँ इतनी विचित्र और अलौकिक होती हैं कि उनको सुनकर, गाकर और याद करके भी जीव पवित्र होकर अपना उद्धार कर लेते हैं।

निर्गुण-उपासनामें वही शक्ति 'ब्रह्मविद्या' हो जाती है, और सगुण-उपासनामें वही शक्ति 'भक्ति' हो जाती है। जीव भगवान्‌का ही अंश है। जब वह दूसरोंमें मानी हुई ममता हटाकर एकमात्र भगवान्‌की स्वतःसिद्ध वास्तविक आत्मीयताको जाग्रत् कर लेता है, तब भगवान्‌की शक्ति उसमें भक्तिरूपसे प्रकट हो जाती है। वह भक्ति इतनी विलक्षण है कि निराकार भगवान्‌को भी साकाररूपसे प्रकट कर देती है, भगवान्‌को भी खींच लेती है। वह भक्ति भी भगवान् ही देते हैं।

भगवान्‌की भक्तिरूप शक्तिके दो रूप हैं—विरह और मिलन। भगवान् विरह भी भेजते हैं*, और मिलन भी।

जब भगवान् विरह भेजते हैं, तब भक्त भगवान्‌के बिना व्याकुल हो जाता है। व्याकुलताकी अग्निमें संसारकी आसक्ति जल जाती है और भगवान् प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें भगवान्‌की शक्ति पहले उत्कट जिज्ञासाके रूपमें आती है (जिससे तत्त्वको जाने बिना साधकसे रहा नहीं जाता) और फिर ब्रह्मविद्या-रूपसे जीवके अज्ञानका नाश करके उसके वास्तविक स्वरूपको प्रकाशित कर देती है। परन्तु भगवान्‌की वह दिव्य शक्ति, जिसे भगवान् विरहरूपसे भेजते हैं, उससे भी बहुत विलक्षण है। भगवान् कहाँ हैं? क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?—इस प्रकार भक्त व्याकुल हो जाता है, तो यह व्याकुलता सब पापोंका नाश करके भगवान्‌को साकाररूपसे प्रकट कर देती है। व्याकुलतासे जितना जल्दी काम बनता है, उतना विवेक-विचारपूर्वक किये गये साधनसे नहीं।

विशेष बात

भगवान् अपनी प्रकृतिके द्वारा अवतार लेते हैं और तरह-तरहकी अलौकिक लीलाएँ करते हैं। जैसे अग्नि स्वयं कुछ नहीं करती, उसकी प्रकाशिका-शक्ति प्रकाश कर देती है, दाहिका-शक्ति जला देती है; ऐसे ही भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते, उनकी दिव्य शक्ति ही सब काम कर देती है। शास्त्रोंमें आता है कि सीताजी कहती हैं—'रावणको मारना आदि सब काम मैंने किया है, रामजीने कुछ नहीं किया।'

जैसे मनुष्य और उसकी शक्ति (ताकत) है, ऐसे ही भगवान् और उनकी शक्ति है। उस शक्तिको भगवान्‌से अलग भी नहीं कह सकते और एक भी नहीं कह सकते। मनुष्यमें जो शक्ति है, उसे वह अपनेसे अलग करके नहीं दिखा सकता, इसलिये वह उससे अलग नहीं है। मनुष्य रहता है, पर उसकी शक्ति घटती-बढ़ती रहती है, इसलिये वह मनुष्यसे एक भी नहीं है। यदि उसकी मनुष्यसे एकता होती तो वह उसके स्वरूपके साथ बराबर रहती, घटती-बढ़ती नहीं। अतः भगवान् और उनकी शक्तिको भिन्न अथवा अभिन्न कुछ भी नहीं कह सकते। दार्शनिकोंने भिन्न भी नहीं कहा और अभिन्न भी नहीं कहा। वह शक्ति अनिर्वचनीय है। भगवान् श्रीकृष्णके उपासक उस शक्तिको श्रीजी-(राधाजी-) के नामसे कहते हैं।

जैसे पुरुष और स्त्री दो होते हैं, ऐसे श्रीकृष्ण और श्रीजी

* संतोंकी वाणीमें आया है—'दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।' अर्थात् भगवान्‌ने कृपा करके मेरे लिये विरह भेज दिया!

दो नहीं हैं। ज्ञानमें तो द्वैतका अद्वैत होता है अर्थात् दो होकर भी एक हो जाता है, और भक्तिमें अद्वैतका द्वैत होता है अर्थात् एक होकर भी दो हो जाता है। जीव और ब्रह्म एक हो जायँ तो 'ज्ञान' होता है और एक ही ब्रह्म दो रूप हो जाय तो 'भक्ति' होती है। एक ही अद्वैत-तत्त्व प्रेमकी लीला करनेके लिये, प्रेमका आस्वादन करनेके लिये, सम्पूर्ण जीवोंको प्रेमका आनन्द देनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीजी—इन दो रूपोंसे प्रकट होता है*। दो रूप होनेपर भी दोनोंमें कौन बड़ा है और कौन छोटा, कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद? इसका पता ही नहीं चलता। दोनों ही एक-दूसरेसे बढ़कर विलक्षण दीखते हैं। दोनों एक-दूसरेके प्रति आकृष्ट होते हैं। श्रीजीको देखकर भगवान् प्रसन्न होते हैं और भगवान्को देखकर श्रीजी। दोनोंकी परस्पर प्रेम-लीलासे रसकी वृद्धि होती है। इसीको रास कहते हैं।

भगवान्की शक्तियाँ अनन्त हैं, अपार हैं। उनकी दिव्य शक्तियोंमें ऐश्वर्य-शक्ति भी है और माधुर्य-शक्ति भी। ऐश्वर्य-शक्तिसे भगवान् ऐसे विचित्र और महान् कार्य करते हैं, जिनको दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। ऐश्वर्य-शक्तिके कारण उनमें जो महत्ता, विलक्षणता, अलौकिकता दीखती है, वह उनके सिवाय और किसीमें देखने-सुननेमें नहीं आती। माधुर्य-शक्तिमें भगवान् अपने ऐश्वर्यको भूल जाते हैं। भगवान्को भी मोहित करनेवाली माधुर्य-शक्तिमें एक मधुरता, मिठास होती है, जिसके कारण भगवान् बड़े मधुर और प्रिय लगते हैं। जब भगवान् ग्वालबालोंके साथ खेलते हैं, तब माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है। अगर उस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट हो जाय तो सारा खेल बिगड़ जाय; ग्वालबाल डर जायँ और भगवान्के साथ खेल भी न सकें। ऐसे ही भगवान् कहीं मित्ररूपसे, कहीं पुत्ररूपसे और कहीं पतिरूपसे प्रकट हो जाते हैं, तो उस समय उनकी ऐश्वर्य-शक्ति छिपी रहती है और माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है। तात्पर्य है कि भगवान् भक्तोंके भावोंके अनुसार उनको आनन्द देनेके लिये ही अपनी ऐश्वर्य-शक्तिको छिपाकर माधुर्य-शक्ति प्रकट कर देते हैं।

जिस समय माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट नहीं होती और जिस समय ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय माधुर्य-शक्ति प्रकट नहीं होती। ऐश्वर्य-शक्ति केवल तभी प्रकट होती है, जब

माधुर्यभावमें कोई शंका पैदा हो जाय। जैसे, माधुर्य-शक्तिके प्रकट रहनेपर भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ोंको ढूँढते हैं। परन्तु 'बछड़े कहाँ गये?' यह शंका पैदा होते ही ऐश्वर्य-शक्ति प्रकट हो जाती है और भगवान् तत्काल जान जाते हैं कि बछड़ोंको ब्रह्माजी ले गये हैं।

भगवान्में एक सौन्दर्य-शक्ति भी होती है, जिससे हरेक प्राणी उनमें आकृष्ट हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य-को देखकर मथुरापुरवासिनी स्त्रियाँ आपसमें कहती हैं—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥

(श्रीमद्भा० १०।४४।१४)

'इन भगवान् श्रीकृष्णका रूप सम्पूर्ण सौन्दर्यका सार है, सृष्टिमात्रमें किसीका भी रूप इनके रूपके समान नहीं है। इनका रूप किसीके सँवारने-सजाने अथवा गहने-कपड़ोंसे नहीं, प्रत्युत स्वयंसिद्ध है। इस रूपको देखते-देखते तृप्ति भी नहीं होती; क्योंकि यह नित्य नवीन ही रहता है। समग्र यश, सौन्दर्य और ऐश्वर्य इस रूपके आश्रित है। इस रूपके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं। गोपियोंने पता नहीं कौन-सा तप किया था, जो अपने नेत्रोंके दोनोंसे सदा इनकी रूप-माधुरीका पान किया करती हैं!'

शुकदेवजी कहते हैं—

निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना
मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः
पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥

(श्रीमद्भा १०।४३।२०-२१)

'परीक्षित्! मंचोंपर जितने लोग बैठे थे, वे मथुराके नागरिक और राष्ट्रके जन-समुदाय पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको देखकर इतने प्रसन्न हुए कि उनके नेत्र और मुखकमल खिल उठे, उत्कण्ठासे भर गये। वे नेत्रोंद्वारा उनकी मुख-माधुरीका पान करते-करते तृप्त ही नहीं होते थे; मानो वे उन्हें नेत्रोंसे पी रहे हों, जिह्वासे चाट रहे हों, नासिकासे सूँघ रहे हों और भुजाओंसे पकड़कर

* येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत् । (श्रीराधातापनीयोपनिषद्)

'जो ये राधा और जो ये कृष्ण रसके सागर हैं, वे एक ही हैं, पर लीलाके लिये दो रूप बने हुए हैं।'

हृदयसे सटा रहे हों!’

भगवान् श्रीरामके सौन्दर्यको देखकर विदेह राजा जनक भी विदेह अर्थात् देहकी सुध-बुधसे रहित हो जाते हैं—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥

(मानस १।२१५।४)

और कहते हैं—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥

(मानस १।२१६।२)

वनमें रहनेवाले कोल-भील भी भगवान्‌के विग्रहको देखकर मुग्ध हो जाते हैं—

करहि जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे ॥

चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े ॥

(मानस २।१३५।३)

प्रेमियोंकी तो बात ही क्या, वैरभाव रखनेवाले राक्षस खर-दूषण भी भगवान्‌के विग्रहकी सुन्दरताको देखकर चकित हो जाते हैं और कहते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥
हम भरि जन्म सुनुहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥

(मानस ३।१९।२)

तात्पर्य है कि भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यकी ओर प्रेमी, विरक्त, ज्ञानी, मूर्ख, वैरी, असुर और राक्षसतक सबका मन आकृष्ट हो जाता है।

‘सम्भवाम्यात्ममायया’—जो मनुष्य भगवान्‌से विमुख रहते हैं, उनके सामने भगवान् अपनी योगमायामें छिपे रहते हैं और साधारण मनुष्य-जैसे ही दीखते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों भगवान्‌के सम्मुख होता जाता है, त्यों-त्यों भगवान् उसके सामने प्रकट होते जाते हैं। इसी योगमायाका आश्रय लेकर भगवान् विचित्र-विचित्र लीलाएँ करते हैं^१।

भगवद्विमुख मूढ़ पुरुषके आगे दो परदे रहते हैं— एक तो अपनी मूढ़ताका और दूसरा भगवान्‌की योग-मायाका (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक)। अपनी मूढ़ता रहनेके कारण भगवान्‌का प्रभाव साक्षात् सामने प्रकट होनेपर भी वह उसे समझ नहीं सकता; जैसे—

द्रौपदीका चीर-हरण करनेके लिये दुःशासन अपना पूरा बल लगाता है, उसकी भुजाएँ थक जाती हैं, पर साड़ीका अन्त नहीं आता—

द्रुपद सुता निरबल भइ ता दिन, तजि आये निज धाम।

दुस्सासन की भुजा थकित भई, बसन-रूप भए स्याम ॥

—इस प्रकार भगवान्‌ने सभाके भीतर अपना ऐश्वर्य

साक्षात् प्रकट कर दिया। परन्तु अपनी मूढ़ताके कारण दुःशासन, दुर्योधन, कर्ण आदिपर इस बातका कोई असर ही नहीं पड़ा कि द्रौपदीके द्वारा भगवान्‌को पुकारनेमात्रसे कितनी विलक्षणता प्रकट हो गयी! एक स्त्रीका चीरहरण भी नहीं कर सके तो और क्या कर सकते हैं! इस तरफ उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। भगवान्‌का प्रभाव सामने देखते हुए भी वे उसे जान नहीं सके।

यदि जीव अपनी मूढ़ता (अज्ञान) दूर कर दे तो उसे अपने स्वरूपका अथवा परमात्मतत्त्वका बोध तो हो जाता है, पर भगवान्‌के दर्शन नहीं होते^२। भगवान्‌के दर्शन तभी होते हैं, जब भगवान् अपनी योगमायाका परदा हटा देते हैं। अपना अज्ञान मिटाना तो जीवके हाथकी बात है, पर योग-मायाको दूर करना उसके हाथकी बात नहीं है। वह सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाय तो भगवान् अपनी शक्तिसे उसका अज्ञान भी मिटा सकते हैं और दर्शन भी दे सकते हैं।

भगवान् जितनी लीलाएँ करते हैं, सब योगमायाका आश्रय लेकर ही करते हैं। इसी कारण उनकी लीलाको देख सकते हैं, उसका अनुभव कर सकते हैं। यदि वे योग-मायाका आश्रय न लें तो उनकी लीलाको कोई देख ही नहीं सकता, उसका आस्वादन कोई कर ही नहीं सकता।

अवतार-सम्बन्धी विशेष बात

अवतारका अर्थ है—नीचे उतरना। सब जगह परिपूर्ण रहनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा अपने अनन्य भक्तोंकी इच्छा पूरी करनेके लिये अत्यधिक कृपासे एक स्थान-विशेषमें अवतार लेते हैं और छोटे बन जाते हैं। दूसरे लोगोंका प्रभाव या महत्त्व तो बड़े हो जानेसे होता है, पर भगवान्‌का प्रभाव या महत्त्व छोटे हो जानेसे होता है। कारण

१-योगमायाका आश्रय लेकर ही भगवान् रासलीला करते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥ (श्रीमद्भा० १०।२९।१)

२-अपने स्वरूपका बोध होनेपर भगवान्‌के दर्शन हो जायँ—ऐसा नियम नहीं है। परन्तु भगवान्‌के दर्शन होनेपर अपने स्वरूपका बोध भी हो जाता है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥ (मानस ३।३६।५)

कि अपार, असीम, अनन्त होकर भी भगवान् छोटे-से बन जाते हैं—यह उनकी विलक्षणता ही है। जैसे, भगवान् अनन्त ब्रह्माण्डोंको धारण करते हैं; परन्तु एक पर्वतको धारण करनेसे भगवान् 'गिरिधारी' नामसे प्रसिद्ध हो गये! अनन्त ब्रह्माण्ड जिनके रोम-रोममें स्थित है*, ऐसे परमेश्वर एक पर्वतको उठा लें—यह कोई बड़ी बात नहीं, प्रत्युत छोटी बात है। परन्तु छोटी बातमें ही भगवान्की बड़ी बात होती है। इसी प्रकार अवतार लेनेमें ही भगवान्की विशेषता है।

साधारण आदमी जिस स्थितिपर है, उसी स्थितिपर आकर भगवान् वैसी लीला करते हैं। बिलकुल भोले-भाले साधारण बालककी तरह बनकर लीला करते हैं। ग्वालबालोंसे खेलते समय वे दूसरे ग्वालबालसे हार भी जाते हैं। जो ग्वालबाल जीत जाता है, वह सवार बन जाता है और भगवान् घोड़ा बन जाते हैं। यह उनकी विशेष महत्ता है।

भगवान्के प्रभावको जाननेवाले ज्ञानी महात्मा लोग तो उनके स्वरूपमें मस्त रहते हैं; पर भक्तोंको उनकी साधारण अज्ञ बालककी तरह भोली-भाली लीला बड़ी विचित्र और मीठी लगती है। वहाँ ज्ञानियोंका ज्ञान नहीं चलता। ज्ञानियोंके शिरोमणि ब्रह्माजी भी भगवान्की लीलाको देखकर चकरा गये! बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, योगी-तपस्वी,

संत-महात्मा भी उनकी लीलाओंके रहस्यको नहीं जान सकते और इस विषयमें मूक हो जाते हैं। भगवान् ही कृपा करके जिन प्यारे अन्तरंग भक्तोंको जनाना चाहते हैं, वे ही उनकी लीलाके तत्त्वको जान पाते हैं—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई' (मानस २। १२७। २)। गायें चराते समय, ग्वालबालोंसे खेलते समय भी भगवान् बड़े-बड़े प्रभावशाली कार्य कर देते हैं। बड़े-बड़े बलवान् राक्षसोंको भी चुटकियोंमें ही खत्म कर देते हैं। छोटे-से बालक बननेपर भी उनका प्रभाव वैसा-का-वैसा ही रहता है।

जैसे कोई बहुत बड़ा विद्वान् किसी बालकको वर्णमाला सिखाता है, तो वह बालकका हाथ पकड़कर उससे 'क ख ग' लिखवाता है और मुँहसे भी वैसा बोलता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह विद्वान् स्वयं वर्णमाला सीखता है। वह तो बालककी स्थितिमें आकर उसे सिखाता है, जिससे वह सुगमतापूर्वक सीख जाय। ऐसे ही अनन्तब्रह्माण्डनायक भगवान् हमलोगोंके बीच हमारे सामने आते हैं और हमारी तरह ही बनकर हमें शिक्षा देते हैं। उनकी बड़ी अलौकिक विचित्र-विचित्र लीलाएँ होती हैं, जिनका श्रवण, पठन और गायन करनेसे भी लोगोंका उद्धार हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—भगवान् प्रकृतिकी सहायतासे ही क्रिया (लीला) करते हैं। इसीलिये सीताजी कहती हैं कि सब कार्य मैंने किये हैं, भगवान् रामने कुछ नहीं किया (अध्यात्मरामायण, बाल० पहले अध्यायके बत्तीसवेंसे तैंतालीसवें श्लोकतक)। परन्तु भगवान् मनुष्यकी तरह प्रकृतिके अधीन नहीं होते—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय।' कारण कि भगवान्के लिये प्रकृति 'पर' नहीं है, प्रत्युत उनसे अभिन्न है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। भगवान्को प्रकृतिमें स्थित मनुष्योंके सामने आना है, इसलिये वे प्रकृतिको स्वीकार करके प्रकट होते हैं। तभी मनुष्य उनको देख सकते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें अपने अवतारका अवसर बताते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

भारत	= हे भरतवंशी अर्जुन!	अधर्मस्य	= अधर्मकी	अहम्	= मैं
यदा, यदा	= जब-जब	अभ्युत्थानम्	= वृद्धि	आत्मानम्	= अपने-
धर्मस्य	= धर्मकी	भवति	= होती है,		आपको
ग्लानिः	= हानि (और)	तदा	= तब-तब	सृजामि	= (साकाररूपसे)
		हि	= ही		प्रकट करता हूँ।

* रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड। (मानस १। २०१)

व्याख्या—‘यदा यदा हि धर्मस्य अभ्युत्थान-मधर्मस्य’—धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिका स्वरूप है—भगवत्प्रेमी, धर्मात्मा, सदाचारी, निरपराध और निर्बल मनुष्योंपर नास्तिक, पापी, दुराचारी और बलवान् मनुष्योंका अत्याचार बढ़ जाना तथा लोगोंमें सद्गुण-सदाचारोंकी अत्यधिक कमी और दुर्गुण-दुराचारोंकी अत्यधिक वृद्धि हो जाना।

‘यदा यदा’ पदोंका तात्पर्य है कि जब-जब आवश्यकता पड़ती है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं। एक युगमें भी जितनी बार आवश्यकता और अवसर प्राप्त हो जाय, उतनी बार अवतार ले सकते हैं। उदाहरणार्थ, समुद्र-मन्थनके समय भगवान्ने अजितरूपसे समुद्र-मन्थन किया, कच्छपरूपसे मन्दराचलको धारण किया तथा सहस्रबाहुरूपसे मन्दराचलको ऊपरसे दबाकर रखा। फिर देवताओंको अमृत बाँटनेके लिये मोहिनी-रूप धारण किया। इस प्रकार भगवान्ने एक साथ अनेक रूप धारण किये।

अधर्मकी वृद्धि और धर्मका हास होनेका मुख्य कारण है—नाशवान् पदार्थोंकी ओर आकर्षण। जैसे माता और पितासे शरीर बनता है, ऐसे ही प्रकृति और परमात्मासे सृष्टि बनती है। इसमें प्रकृति और उसका कार्य संसार तो प्रतिक्षण बदलता रहता है, कभी क्षणमात्र भी एकरूप नहीं रहता और परमात्मा तथा उनका अंश जीवात्मा—दोनों सम्पूर्ण देश, काल आदिमें नित्य-निरन्तर रहते हैं, इनमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। जब जीव अनित्य, उत्पत्ति-विनाशशील प्राकृत पदार्थोंसे सुख पानेकी इच्छा करने लगता है और उनकी प्राप्तिमें सुख मानने लगता है, तब उसका पतन होने लगता है। लोगोंकी सांसारिक भोग और संग्रहमें ज्यों-ज्यों आसक्ति बढ़ती है, त्यों-ही-त्यों समाजमें अधर्म बढ़ता है और ज्यों-ज्यों अधर्म बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों समाजमें पापाचरण, कलह, विद्रोह आदि दोष बढ़ते हैं।

सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग—इन चारों युगोंकी ओर देखा जाय तो इनमें भी क्रमशः धर्मका हास होता है। सत्ययुगमें धर्मके चारों चरण रहते हैं, त्रेतायुगमें धर्मके तीन चरण रहते हैं, द्वापरयुगमें धर्मके दो चरण रहते हैं और कलियुगमें धर्मका केवल एक चरण शेष रहता है। जब युगकी मर्यादासे भी अधिक धर्मका हास हो जाता है, तब भगवान् धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिये अवतार

लेते हैं।

‘तदात्मानं सृजाम्यहम्’—जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। अतः भगवान्के अवतार लेनेका मुख्य प्रयोजन है—धर्मकी स्थापना करना और अधर्मका नाश करना।

धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होनेपर लोगोंकी प्रवृत्ति अधर्ममें हो जाती है। अधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे स्वाभाविक पतन होता है। भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं। इसलिये लोगोंको पतनमें जानेसे रोकनेके लिये वे स्वयं अवतार लेते हैं।

कर्मोंमें सकामभाव उत्पन्न होना ही धर्मकी हानि है और अपने-अपने कर्तव्यसे च्युत होकर निषिद्ध आचरण करना ही अधर्मका अभ्युत्थान है! ‘काम’ अर्थात् कामनासे ही सब-के-सब अधर्म, पाप, अन्याय आदि होते हैं (गीता— तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अतः इस ‘काम’का नाश करनेके लिये तथा निष्कामभावका प्रसार करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं।

यहाँ शंका हो सकती है कि वर्तमान समयमें धर्मका हास और अधर्मकी वृद्धि बहुत हो रही है, फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? इसका समाधान यह है कि युगको देखते हुए अभी वैसा समय नहीं आया है, जिससे भगवान् अवतार लें। त्रेतायुगमें राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंके ढेर लगा दिये थे। यह तो त्रेतायुगसे भी गया-बीता कलियुग है, पर अभी धर्मात्मा पुरुष जी रहे हैं, उनका कोई नाश नहीं करता। दूसरी एक बात और है। जब धर्मका हास और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब भगवान्की आज्ञासे संत इस पृथ्वीपर आते हैं अथवा यहींसे विशेष साधक पुरुष प्रकट हो जाते हैं और धर्मकी स्थापना करते हैं। कभी-कभी परमात्माको प्राप्त हुए कारक महापुरुष भी संसारका उद्धार करनेके लिये आते हैं। साधक और सन्त पुरुष जिस देशमें रहते हैं, उस देशमें अधर्मकी वैसी वृद्धि नहीं होती और धर्मकी स्थापना होती है।

जब साधकों और सन्त-महात्माओंसे भी लोग नहीं मानते, प्रत्युत उनका विनाश करना आरम्भ कर देते हैं और जब धर्मका प्रचार करनेवाले बहुत कम रहते हैं तथा जिस युगमें जैसा धर्म होना चाहिये, उसकी अपेक्षा भी बहुत अधिक धर्मका हास हो जाता है, तब भगवान् स्वयं आते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपने अवतारके अवसरका वर्णन करके अब भगवान् अपने अवतारका प्रयोजन बताते हैं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधूनाम्	= साधुओं (भक्तों)-की	विनाशाय	= विनाश करनेके लिये	स्थापना करनेके लिये (मैं)
परित्राणाय	= रक्षा करनेके लिये,	च	= और	युगे, युगे = युग-युगमें
दुष्कृताम्	= पापकर्म करनेवालोंका	धर्मसंस्थापनार्थाय	= धर्मकी भलीभाँति	सम्भवामि = प्रकट हुआ करता हूँ।

व्याख्या—‘परित्राणाय साधूनाम्’—साधु मनुष्योंके द्वारा ही अधर्मका नाश और धर्मका प्रचार होता है, इसलिये उनकी रक्षा करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं।

दूसरोंका हित करना ही जिनका स्वभाव है और जो भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला आदिका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक स्मरण, कीर्तन आदि करते हैं और लोगोंमें भी इसका प्रचार करते हैं, ऐसे भगवान्के आश्रित भक्तोंके लिये यहाँ ‘साधूनाम्’ पद आया है।

जिसका एकमात्र परमात्म-प्राप्तिका उद्देश्य है, वह साधु है* और जिसका नाशवान् संसारका उद्देश्य है, वह असाधु है।

असत् और परिवर्तनशील वस्तुमें सद्भाव करने और उसे महत्त्व देनेसे कामनाएँ पैदा होती हैं। ज्यों-ज्यों कामनाएँ नष्ट होती हैं, त्यों-त्यों साधुता आती है और ज्यों-ज्यों कामनाएँ बढ़ती हैं, त्यों-त्यों साधुता लुप्त होती है। कारण कि असाधुताका मूल हेतु कामना ही है। साधुतासे अपना उद्धार और लोगोंका स्वतः उपकार होता है।

साधु पुरुषके भावों और क्रियाओंमें पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, मनुष्य, देवता, पितर, ऋषि, मुनि आदि सबका हित भरा रहता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।
(मानस ७। ४७। ३)

यदि लोग उसके मनके भावोंको जान जायँ तो वे उसके चरणोंके दास बन जायँ। इसके विपरीत यदि लोग दुष्ट पुरुषके मनके भावोंको जान जायँ तो दिनमें कई बार लोगोंसे उसकी पिटाई हो।

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि भगवान् साधु पुरुषोंकी रक्षा किया करते हैं तो फिर संसारमें साधु पुरुष

दुःख पाते हुए क्यों देखे जाते हैं? इसका समाधान यह है कि साधु पुरुषोंकी रक्षाका तात्पर्य उनके भावोंकी रक्षा है; शरीर, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई आदिकी रक्षा नहीं; कारण कि वे इन सांसारिक पदार्थोंको महत्त्व नहीं देते। भगवान् भी इन वस्तुओंको महत्त्व नहीं देते; क्योंकि सांसारिक पदार्थोंको महत्त्व देनेसे ही असाधुता पैदा होती है।

भक्तोंमें सांसारिक पदार्थोंका महत्त्व, उद्देश्य होता ही नहीं; तभी तो वे भक्त हैं। भक्तलोग प्रतिकूलता-(दुःखदायी परिस्थिति-) में विशेष प्रसन्न होते हैं; क्योंकि प्रतिकूलतासे जितना आध्यात्मिक लाभ होता है, उतना किसी दूसरे साधनसे नहीं होता। वास्तवमें भक्ति भी प्रतिकूलतामें ही बढ़ती है। सांसारिक राग, आसक्तिसे ही पतन होता है और प्रतिकूलतासे वह राग टूटता है। इसलिये भगवान्का भक्तोंके लिये प्रतिकूलता भेजना भी वास्तवमें भक्तोंकी रक्षा करना है।

‘विनाशाय च दुष्कृताम्’—दुष्ट मनुष्य अधर्मका प्रचार और धर्मका नाश करते हैं, इसलिये उनका विनाश करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं।

जो मनुष्य कामनाके अत्यधिक बढ़नेके कारण झूठ, कपट, छल, बेईमानी आदि दुर्गुण-दुराचारोंमें लगे हुए हैं, जो निरपराध सद्गुण, सदाचारी, साधुओंपर अत्याचार किया करते हैं, जो दूसरोंका अहित करनेमें ही लगे रहते हैं, जो प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानते, भगवान् और वेद-शास्त्रोंका विरोध करना ही जिनका स्वभाव हो गया है, ऐसे आसुरी सम्पत्तिमें अधिक रचे-पचे रहकर वैसा ही बुरा आचरण करनेवाले मनुष्योंके लिये यहाँ ‘दुष्कृताम्’ पद आया है। भगवान् अवतार लेकर ऐसे ही दुष्ट मनुष्योंका विनाश करते हैं।

* साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः। (गीता ९। ३०)

शंका—भगवान् तो सब प्राणियोंमें सम हैं और उनका कोई वैरी नहीं है ('समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यः' गीता ९। २९), फिर वे दुष्टोंका विनाश क्यों करते हैं?

समाधान—सम्पूर्ण प्राणियोंके परम सुहृद् होनेसे भगवान्का कोई वैरी नहीं है; परन्तु जो मनुष्य भक्तोंका अपराध करता है, वह भगवान्का वैरी होता है—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई ॥

(मानस २। २१८। २-३)

भगवान्का एक नाम 'भक्तभक्तिमान्' (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९) है। अतः भक्तोंको कष्ट देनेवाले दुष्टोंका विनाश भगवान् स्वयं करते हैं। पापका विनाश भक्त करते हैं और पापीका विनाश भगवान् करते हैं।

साधुओंका परित्राण करनेमें भगवान्की जितनी कृपा है, उतनी ही कृपा दुष्टोंका विनाश करनेमें भी है*! विनाश करके भगवान् उन्हें शुद्ध, पवित्र बनाते हैं।

सन्त-महात्मा धर्मकी स्थापना तो करते हैं, पर दुष्टोंके विनाशका कार्य वे नहीं करते। दुष्टोंका विनाश करनेका कार्य भगवान् अपने हाथमें रखते हैं; जैसे—साधारण मलहम-पट्टी करनेका काम तो कंपाउंडर करता है, पर बड़ा ऑपरेशन करनेका काम सिविल सर्जन खुद करता है, दूसरा नहीं।

माता और पिता—दोनों समानरूपसे बालकका हित चाहते हैं। बालक पढ़ाई नहीं करता, उद्वण्डता करता है तो उसको माता भी समझाती है और पिता भी समझाते हैं। बालक अपनी उद्वण्डता न छोड़े तो पिता उसे मारते-पीटते हैं। परन्तु बालक जब घबरा जाता है, तब माता पिताको मारने-पीटनेसे रोकती है। यद्यपि माता पतिव्रता है, पतिके अनुसरण करना उसका धर्म है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि पति बालकको मारे तो वह भी साथमें मारने लग जाय। यदि वह ऐसा करे तो बालक बेचारा कहाँ जायगा? बालककी रक्षा करनेमें उसका पातिव्रत-धर्म नष्ट नहीं होता। कारण कि वास्तवमें पिता भी बालकको मारना-पीटना नहीं चाहते, प्रत्युत उसके दुर्गुण-दुराचारोंको दूर करना चाहते हैं। इसी तरह भगवान् पिताके समान हैं और

उनके भक्त माताके समान। भगवान् और सन्त-महात्मा मनुष्योंको समझाते हैं। फिर भी मनुष्य अपनी दुष्टता न छोड़े तो उनका विनाश करनेके लिये भगवान्को अवतार लेकर खुद आना पड़ता है। अगर वे अपनी दुष्टता छोड़ दें तो उन्हें मारनेकी आवश्यकता ही न रहे।

निर्गुण ब्रह्म प्रकृति, माया, अज्ञान आदिका विरोधी नहीं है, प्रत्युत उनको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला तथा उनका पोषक है। तात्पर्य यह कि प्रकृति, माया आदिमें जो कुछ सामर्थ्य है, वह सब उस निर्गुण ब्रह्मकी ही है। इसी तरह सगुण भगवान् भी किसी जीवके साथ द्वेष, वैर या विरोध नहीं रखते, प्रत्युत समान रीतिसे सबको सामर्थ्य देते हैं, उनका पोषण करते हैं। इतना ही नहीं, भगवान्की रची हुई पृथ्वी भी रहनेके लिये सबको बराबर स्थान देती है। उसका यह पक्षपात नहीं है कि महात्माको तो विशेष स्थान दे, पर दुष्टको स्थान न दे। ऐसे ही अन्न सबकी भूख बराबर मिटाता है, जल सबकी प्यास समानरूपसे मिटाता है, वायु सबको प्राणवायु एक-सी देती है, सूर्य सबको प्रकाश एक-सा देता है, आदि। यदि पृथ्वी, अन्न, जल आदि दुष्टोंको स्थान, अन्न, जल आदि देना बंद कर दें तो दुष्ट जी ही नहीं सकते। इस प्रकार जब भगवान्के विधानके अनुसार चलनेवाले पृथ्वी, अन्न, जल, वायु, सूर्य आदिमें भी इतनी उदारता, समता है, तब इस विधानके विधायक-(भगवान्-) में कितनी विलक्षण उदारता, समता होगी! वे तो उदारताके भण्डार ही हैं। यदि विधायक(भगवान्) और उनके विधानकी ओर थोड़ा-सा भी दृष्टिपात किया जाय तो मनुष्य गद्गद हो जाय और भगवान्के चरणोंमें उसका प्रेम हो जाय!

भगवान्का दुष्ट पुरुषोंसे विरोध नहीं है, प्रत्युत उनके दुष्कर्मोंसे विरोध है। कारण कि वे दुष्कर्म संसारका तथा उन दुष्टोंका भी अहित करनेवाले हैं। भगवान् सर्वसुहृद् हैं; अतः वे संसारका तथा उन दुष्टोंका भी हित करनेके लिये ही दुष्टोंका विनाश करते हैं। उनके द्वारा जो दुष्ट मारे जाते हैं, उनको भगवान् अपने ही धाममें भेज देते हैं—यह उनकी कितनी विलक्षण उदारता है!

* १—'अरिहृक अनभल कीन्ह न रामा' (मानस २। १८३। ३)

२—ये ये हताशचक्रधरेण राजंस्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन। ते ते गता विष्णुपुरीं प्रयाताः क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः ॥
(पाण्डवगीता)

'हे राजन्! त्रैलोक्याधिपति चक्रधारी भगवान् जनार्दनके द्वारा जो लोग मारे गये, वे सभी विष्णुलोकको चले गये। इस देवका क्रोध भी वरकी तरह ही कल्याणप्रद है।'

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अगर हम पाप-कर्म ही करते रहें तो क्या हमें भी मारनेके लिये भगवान्को आना पड़ेगा? अगर ऐसी बात है तो भगवान्के द्वारा मरनेसे हमारा कल्याण हो ही जायगा; फिर जिनमें संयम करना पड़ता है, ऐसे श्रमसाध्य सद्गुण-सदाचारका पालन क्यों करें? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें भगवान् उन्हीं पापियोंको मारनेके लिये आते हैं, जो भगवान्के सिवाय दूसरे किसीसे मर ही नहीं सकते। दूसरी बात, शुभ-कर्मोंमें जितना लगे, उतना तो पुण्य हो ही जायगा, पर अशुभ-कर्मोंमें लगे रहनेसे यदि बीचमें ही मर जायँगे अथवा कोई दूसरा मार देगा तो मुश्किल हो जायगी! भगवान्के हाथों मरकर मुक्ति पानेकी लालसा कैसे पूरी होगी! इसलिये अशुभ-कर्म करने ही नहीं चाहिये।

‘धर्मसंस्थापनार्थाय’—निष्कामभावका उपदेश, आदेश और प्रचार ही धर्मकी स्थापना है। कारण कि निष्कामभावकी कमीसे और असत् वस्तुको सत्ता देकर उसे महत्त्व देनेसे ही अधर्म बढ़ता है, जिससे मनुष्य दुष्ट स्वभाववाले हो जाते हैं। इसलिये भगवान् अवतार लेकर आचरणके द्वारा निष्कामभावका प्रचार करते हैं। निष्कामभावके प्रचारसे धर्मकी स्थापना स्वतः हो जाती है।

धर्मका आश्रय भगवान् हैं^१ (गीता—चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक), इसलिये शाश्वत धर्मकी संस्थापना करनेके लिये भगवान् अवतार लेते हैं। संस्थापना करनेका अर्थ है—सम्यक् स्थापना करना। तात्पर्य है कि धर्मका कभी नाश नहीं होता, केवल ह्रास होता है। धर्मका ह्रास होनेपर भगवान् पुनः उसकी अच्छी तरह स्थापना करते हैं (गीता—चौथे अध्यायके पहलेसे तीसरे श्लोकतक)।

‘सम्भवामि युगे युगे’—आवश्यकता पड़नेपर भगवान् प्रत्येक युगमें अवतार लेते हैं। एक युगमें भी जितनी बार जरूरत पड़ती है, उतनी बार भगवान् अवतार लेते हैं। ‘कारक पुरुष’^२ और सन्त-महात्माओंके रूपमें भी भगवान्का अवतार हुआ करता है। भगवान् और कारक पुरुषका अवतार तो ‘नैमित्तिक’ है, पर सन्त-महात्माओंका अवतार

‘नित्य’ माना गया है।

यहाँ शंका होती है कि भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, फिर संतोंकी रक्षा करना, दुष्टोंका विनाश करना और धर्मकी स्थापना करना—ये काम क्या वे अवतार लिये बिना नहीं कर सकते? इसका समाधान यह है कि भगवान् अवतार लिये बिना ये काम नहीं कर सकते, ऐसी बात नहीं है। यद्यपि भगवान् अवतार लिये बिना अनायास ही यह सब कुछ कर सकते हैं और करते भी रहते हैं, तथापि जीवोंपर विशेष कृपा करके उनका कुछ और हित करनेके लिये भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं^३। अवतारकालमें भगवान्के दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप आदिसे, भविष्यमें उनकी दिव्य लीलाओंके श्रवण, चिन्तन और ध्यानसे तथा उनके उपदेशोंके अनुसार आचरण करनेसे लोगोंका सहज ही उद्धार हो जाता है। इस प्रकार लोगोंका सदा उद्धार होता ही रहे, ऐसी एक रीति भगवान् अवतार लेकर ही चलाते हैं।

भगवान्के कई ऐसे प्रेमी भक्त होते हैं, जो भगवान्के साथ खेलना चाहते हैं, उनके साथ रहना चाहते हैं। उनकी इच्छा पूरी करनेके लिये भी भगवान् अवतार लेते हैं और उनके सामने आकर, उनके समान बनकर खेलते हैं।

जिस युगमें जितना कार्य आवश्यक होता है, भगवान् उसीके अनुसार अवतार लेकर उस कार्यको पूरा करते हैं। इसलिये भगवान्के अवतारोंमें तो भेद होता है, पर स्वयं भगवान्में कोई भेद नहीं होता। भगवान् सभी अवतारोंमें पूर्ण हैं और पूर्ण ही रहते हैं।

भगवान्के लिये न तो कोई कर्तव्य है और न उन्हें कुछ पाना ही शेष है (गीता—तीसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), फिर भी वे समय-समयपर अवतार लेकर केवल संसारका हित करनेके लिये सब कर्म करते हैं। इसलिये मनुष्यको भी केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्तव्य-कर्म करने चाहिये।

चौथे श्लोकमें आये अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने मनुष्योंके जन्म और अपने जन्म-(अवतार-) में तीन बड़े अन्तर बताये हैं—

१-(१) ‘श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह’ (मानस २। १२६)

(२) ‘धर्मस्य प्रभुरच्युतः’ (महाभारत, अनु० १४९। १३७)

२-जो महापुरुष भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं और भगवद्धाममें विराजते हैं, वे ‘कारक पुरुष’ कहलाते हैं।

३-अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ (श्रीमद्भा १०। ३३। ३७)

‘भगवान् जीवोंपर विशेष कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जायँ।’

(१) जाननेमें अन्तर—मनुष्योंके और भगवान्के बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सब जन्मोंको मनुष्य तो नहीं जानते, पर भगवान् जानते हैं (४।५)।

(२) जन्ममें अन्तर—मनुष्य प्रकृतिके परवश होकर, अपने किये हुए पाप-पुण्योंका फल भोगनेके लिये और फलभोगपूर्वक परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिये जन्म लेता है, पर भगवान् अपनी प्रकृतिको अधीन करके स्वाधीनतापूर्वक

अपनी योगमायासे स्वयं प्रकट होते हैं (चौथे अध्यायका छठा श्लोक)।

(३) कार्यमें अन्तर—साधारणतः मनुष्य अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिये कार्य करते हैं, जो कि मनुष्यजन्मका ध्येय नहीं है, पर भगवान् केवल मात्र जीवोंके कल्याणके लिये कार्य करते हैं (चौथे अध्यायका सातवाँ-आठवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—चौथे श्लोकमें आये अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने अपने जन्मकी दिव्यताका वर्णन आरम्भ किया था। अब अपनी ओरसे निष्काम-कर्म-(कर्मयोग-) का तत्त्व बतानेके उद्देश्यसे अपने जन्मकी दिव्यताके साथ-साथ अपने कर्मकी दिव्यताको जाननेका भी माहात्म्य बताते हैं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ १ ॥

अर्जुन	= हे अर्जुन !	जन्म और कर्मको)	देहम्	= शरीरका
मे	= मेरे	यः	त्यक्त्वा	= त्याग करके
जन्म	= जन्म	तत्त्वतः	पुनः, जन्म	= पुनर्जन्मको
च	= और	वेत्ति	न, एति	= प्राप्त नहीं होता, (प्रत्युत)
कर्म	= कर्म		माम्	= मुझे
दिव्यम्	= दिव्य हैं।		एति	= प्राप्त होता है।
एवम्	= इस प्रकार (मेरे	सः		

व्याख्या—‘जन्म कर्म च मे दिव्यम्’—भगवान् जन्म-मृत्युसे सर्वथा अतीत—अजन्मा और अविनाशी हैं। उनका मनुष्यरूपमें अवतार साधारण मनुष्योंकी तरह नहीं होता। वे कृपापूर्वक मात्र जीवोंका हित करनेके लिये स्वतन्त्रतापूर्वक मनुष्य आदिके रूपमें जन्म-धारणकी लीला करते हैं। उनका जन्म कर्मोंके परवश नहीं होता। वे अपनी इच्छासे ही शरीर धारण करते हैं*।

भगवान्का साकार विग्रह जीवोंके शरीरोंकी तरह हाड़-मांसका नहीं होता। जीवोंके शरीर तो पाप-पुण्यमय, अनित्य, रोगग्रस्त, लौकिक, विकारी, पांचभौतिक और रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले होते हैं, पर भगवान्के विग्रह

पाप-पुण्यसे रहित, नित्य, अनामय, अलौकिक, विकाररहित, परम दिव्य और प्रकट होनेवाले होते हैं। अन्य जीवोंकी अपेक्षा तो देवताओंके शरीर भी दिव्य होते हैं, पर भगवान्का शरीर उनसे भी अत्यन्त विलक्षण होता है, जिसका देवतालोग भी सदा ही दर्शन चाहते रहते हैं (गीता—ग्यारहवें अध्यायका बावनवाँ श्लोक)।

भगवान् जब श्रीराम तथा श्रीकृष्णके रूपमें इस पृथ्वीपर आये, तब वे माता कौसल्या और देवकीके गर्भसे उत्पन्न नहीं हुए। पहले उन्हें अपने शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी स्वरूपका दर्शन देकर फिर वे माताकी प्रार्थनापर बालरूपमें लीला करने लगे। भगवान् श्रीरामके लिये गोस्वामी

* (१) ‘निज इच्छां प्रभु अवतरइ’ (मानस ४।२६)

(२) बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥ (मानस १।१९२)

(३) उद्धवजी भगवान्से कहते हैं—

(३) त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः। अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥

(श्रीमद्भा० ११।११।२८)

‘आप प्रकृतिसे परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाशस्वरूप ब्रह्म हैं। फिर भी आपने स्वेच्छासे ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है।’

तुलसीदासजी कहते हैं—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषण बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥
..... ॥
माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
भगवान् श्रीकृष्णके लिये आया है—
उपसंहर विश्वात्मन्तदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०।३।३०)

माता देवकीने कहा—‘विश्वात्मन्! शंख, चक्र, गदा और पद्मकी शोभासे युक्त इस चार भुजाओंवाले अपने अलौकिक दिव्य रूपको अब छिपा लीजिये!’ तब भगवान्ने माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण शिशुका रूप धारण कर लिया—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः।

(श्रीमद्भा० १०।३।४६)

जब भगवान् श्रीराम अपने धाम पधारने लगे, तब वे अन्तर्धान हुए। जीवोंके शरीरोंकी तरह उनका शरीर यहाँ नहीं रहा, प्रत्युत वे इसी शरीरसे अपने धाम चले गये—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।

विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(वाल्मीकिरामायण, उत्तर० ११०।१२)

‘महामति भगवान् श्रीरामने पितामह ब्रह्माजीके वचन सुनकर और तदनुसार निश्चय करके तीनों भाइयोंसहित अपने उसी शरीरसे वैष्णव तेजमें प्रवेश किया।’

भगवान् श्रीकृष्णके लिये भी ऐसी ही बात आयी है—
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० ११।३१।६)

‘धारणा और ध्यानके लिये अति मंगलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योगधारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये बिना ही भगवान्ने अपने धाममें सशरीर प्रवेश किया।’

भगवान्के विग्रह-(दिव्य शरीर-) के विषयमें महामुनि

वाल्मीकिजी भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥
(मानस २।१२७।३)

एक बार सनकादि ऋषि वैकुण्ठधाममें जा रहे थे। वहाँ भगवान्के द्वारपालोंने उन्हें भीतर जानेसे रोका, तब सनकादिने उन्हें शाप दे दिया। अपने अनुचरोंके द्वारा सनकादिका अपमान हुआ जानकर भगवान् स्वयं वहाँ पधारे। उस समय भगवान्का दर्शन करनेसे उनकी बड़ी विलक्षण दशा हुई। उन्होंने भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-

किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।

अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां

संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३।१५।४३)

‘प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्के चरण-कमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मंजरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।’

शब्दादि विषयोंमें गंध कोई इतनी विलक्षण चीज नहीं है, जिसमें मन आकृष्ट हो जाय। पर भगवान्के चरण-कमलोंकी गंधसे नित्य-निरन्तर परमात्म-स्वरूपमें मग्न रहनेवाले सनकादिकोंके चित्तमें भी खलबली पैदा हो गयी। कारण कि वह पृथ्वीकी विकाररूप गंध नहीं थी, प्रत्युत दिव्य गंध थी। ऐसे ही भगवान्के विग्रहकी प्रत्येक वस्तु (वस्त्र, आभूषण, आयुध आदि) दिव्य, चिन्मय और अत्यन्त विलक्षण है।

भगवान्की लीलाओंको सुनने, पढ़ने, याद करने आदिसे लोगोंका अन्तःकरण निर्मल, पवित्र हो जाता है और उनका अज्ञान दूर हो जाता है—यह भगवान्के कर्मोंकी दिव्यता है। ज्ञानस्वरूप भगवान् शंकर, ब्रह्माजी, सनकादिक ऋषि, देवर्षि नारद आदि भी उनकी लीलाओंको गाकर और सुनकर मग्न हो जाते हैं। भगवान्के अवतारके जो लीला-स्थल हैं, उन स्थानोंमें आस्तिकभावसे, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निवास करनेसे एवं उनका दर्शन करनेसे भी मनुष्यका कल्याण हो जाता है। तात्पर्य है कि भगवान् मात्र जीवोंका कल्याण करनेके उद्देश्यसे ही अवतार लेते हैं और लीलाएँ करते हैं; अतः उनकी लीलाओंको पढ़ने-

सुननेसे, उनका मनन-चिन्तन करनेसे स्वाभाविक ही उस उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है।

चौथे श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से केवल उनके 'जन्म' के विषयमें पूछा था; परन्तु यहाँ भगवान्ने अर्जुनके पूछे बिना अपनी तरफसे 'कर्म' के विषयमें कहना आरम्भ कर दिया! इसमें भगवान्का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे मेरे कर्म दिव्य हैं, वैसे तुम्हारे कर्म भी दिव्य होने चाहिये। कारण कि मनुष्यका जन्म तो दिव्य नहीं हो सकता, पर उसके कर्म अवश्य दिव्य हो सकते हैं; क्योंकि उसीके लिये उसका जन्म हुआ है। कर्मोंमें दिव्यता (शुद्धि) योगसे आती है। जो कर्म बाँधनेवाले होते हैं, उनमें दिव्यता आनेसे वे ही कर्म मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं। कर्म दिव्य (फलेच्छा, ममता-आसक्तिसे रहित) होनेपर कर्ता एक तो उन कर्मोंसे बँधता नहीं; दूसरे, वह पुराने कर्मोंसे भी नहीं बँधता—मुक्त हो जाता है; और तीसरे, उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंसे दूसरोंका भी हित स्वतः होता रहता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करके देखें तो उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही कर्मोंमें मलिनता आती है और वे बाँधनेवाले होते हैं। विनाशीसे अपना सम्बन्ध माननेसे अन्तःकरण, कर्म और पदार्थ—तीनों ही मलिन हो जाते हैं और विनाशीसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जानेसे ये तीनों स्वतः पवित्र हो जाते हैं। अतः विनाशीसे माना हुआ सम्बन्ध ही मूल बाधा है।

'एवं यो वेत्ति तत्त्वतः'—अजन्मा और अविनाशी होते हुए तथा प्राणिमात्रका ईश्वर होते हुए भी भगवान् मात्र जीवोंके हितके लिये अपनी प्रकृतिको अधीन करके स्वतन्त्रतापूर्वक युग-युगमें मनुष्य आदिके रूपमें अवतार लेते हैं—इस तत्त्वको जानना अर्थात् दृढ़तापूर्वक मानना भगवान्के जन्मोंकी दिव्यताको जानना है।

सम्पूर्ण क्रियाओंको करते हुए भी भगवान् अकर्ता ही हैं अर्थात् उनमें करनेका अभिमान नहीं है (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक) और किसी भी कर्मफलमें उनकी स्पृहा (फलेच्छा) नहीं है (गीता—चौथे अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)—इस तत्त्वको जानना भगवान्के कर्मोंकी दिव्यताको जानना है।

जैसे भगवान्के जन्ममें स्वाभाविक ही मात्र जीवोंकी हितैषिता और कर्ममें निर्लिप्तता है, ऐसे ही मनुष्यमें भी

मात्र जीवोंकी हितैषिता और कर्ममें निर्लिप्तता आ जाना ही वास्तवमें भगवान्के जन्म और कर्मके तत्त्वको जानना है।

'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति'—भगवान्को त्रिलोकीमें न तो कुछ करना शेष है और न कुछ पाना ही शेष है (गीता—तीसरे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)। फिर भी वे केवल जीवमात्रका उद्धार करनेके लिये कृपापूर्वक इस भूमण्डलपर अवतार लेते हैं और तरह-तरहकी अलौकिक लीलाएँ करते हैं। उन लीलाओंको गानेसे, सुननेसे, पढ़नेसे और उनका चिन्तन करनेसे भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। भगवान्से सम्बन्ध जुड़नेपर संसारका सम्बन्ध छूट जाता है। संसारका सम्बन्ध छूटनेपर पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् मनुष्य जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

वास्तवमें कर्म बन्धनकारक नहीं होते। कर्मोंमें जो बाँधनेकी शक्ति है, वह केवल मनुष्यकी अपनी बनायी हुई (कामना) है। कामनाकी पूर्तिके लिये रागपूर्वक अपने लिये कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँध जाता है। फिर ज्यों-ज्यों कामना बढ़ती है, त्यों-त्यों वह पापोंमें प्रवृत्त होने लगता है। इस प्रकार उसके कर्म अत्यन्त मलिन हो जाते हैं, जिससे वह बारंबार नीच योनियों और नरकोंमें गिरता रहता है। परन्तु जब वह केवल दूसरोंकी सेवाके लिये निष्कामभावपूर्वक कर्म करता है, तब उसके कर्मोंमें दिव्यता, विलक्षणता आती चली जाती है। इस प्रकार कामनाका सर्वथा नाश होनेपर उसके कर्म दिव्य हो जाते हैं, अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते; फिर उसके पुनर्जन्मका प्रश्न ही नहीं रहता।

'मामेति सोऽर्जुन'—नाशवान् कर्मोंसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण नित्यप्राप्त परमात्मा भी अप्राप्त प्रतीत होते हैं। निष्कामभावपूर्वक केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्म करनेसे मात्र कर्मोंका प्रवाह केवल संसारकी तरफ हो जाता है और नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जाता है।

जीवोंपर महान् कृपा ही भगवान्के जन्ममें कारण है—इस प्रकार भगवान्के जन्मकी दिव्यताको जाननेसे मनुष्यकी भगवान्में भक्ति हो जाती है*। भक्तिसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्के कर्मोंकी दिव्यताको जाननेसे मनुष्यके कर्म भी दिव्य हो जाते हैं अर्थात् वे बन्धनकारक न होकर खुदका और दूसरोंका कल्याण करनेवाले हो जाते हैं, जिससे संसारसे सम्बन्ध-

* उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना ॥ (मानस ५। ३४। २)

विच्छेदपूर्वक भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

मार्मिक बात

सम्पूर्ण कर्म आरम्भ और समाप्त होनेवाले हैं (और कर्मके फलस्वरूप जो कुछ प्राप्त होता है, वह भी अनित्य और नाशवान् होता है); परन्तु स्वयं (जीवात्मा) नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। अतः वास्तवमें स्वयंका कर्मोंके साथ कोई सम्बन्ध है नहीं, प्रत्युत माना हुआ है। अतः सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी उनके साथ अपना सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा अनुभव करे तो उसके कर्म दिव्य हो जाते हैं—यह कर्मोंका तत्त्व है। यही कर्मयोग है!

क्रियाशील प्रकृतिके साथ तादात्म्य होनेके कारण मनुष्यमात्रमें कर्म करनेका वेग रहता है। वह क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रहता (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। संसारमें वह देखता है कि कर्म करनेसे ही सिद्धि (वस्तुकी प्राप्ति) होती है। इसी कारण वह परमात्माकी प्राप्ति भी कर्मोंके द्वारा ही करना चाहता है; परन्तु यह उसकी महान् भूल है। कारण कि नाशवान् कर्मोंके द्वारा नाशवान् वस्तुकी ही प्राप्ति होती है, अविनाशीकी प्राप्ति नहीं होती। अविनाशीकी प्राप्ति तो कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही होती है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर्मयोगमें (ज्ञानयोगकी अपेक्षा भी) सरलतासे हो जाता है। कारण कि कर्मयोगमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे होनेवाले सम्पूर्ण कर्म निष्कामभावपूर्वक केवल संसारके हितके लिये होनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी तरफ हो जाता है और अपना कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म (सेवा) करनेपर अथवा भगवान्के लिये कर्म (पूजा) करनेपर वे कर्म दिव्य मुक्तिदायक हो जाते हैं। परन्तु कामनापूर्वक अपने लिये किये गये कर्म मलिन, बन्धनकारक हो जाते हैं।

कर्मोंमें कर्तृत्वका न होना ही दिव्यता है। अपने लिये कुछ न करनेसे कर्तृत्व नहीं रहता।

भगवान्की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया 'लीला' होती है। लीलामें भगवान् सामान्य मनुष्यों-जैसी क्रिया करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं (गीता—चौथे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। भगवान्की लीला दिव्य होती है। यह दिव्यता देवताओंकी दिव्यतासे भी विलक्षण होती है। देवताओंकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे होनेके कारण सापेक्ष और सीमित होती है, पर भगवान्की दिव्यता निरपेक्ष और असीम होती है। यद्यपि जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी क्रियाएँ भी दिव्य होती हैं, तथापि वे भी भगवल्लीलाके समान नहीं होतीं। भगवान्की साधारण लीला भी अत्यन्त अलौकिक होती है। जैसे, भगवान्की रासलीला लौकिक दीखती है, पर उसको पढ़ने-सुननेसे साधककी काम-वृत्तिका नाश हो जाता है (श्रीमद्भा० दशम स्कन्ध, तैत्तिरीय अर्थाय, चालीसवाँ श्लोक)।

यह जगत् भगवान्का आदि अवतार है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु जीवने भोगासक्तिके कारण जगत्को भगवद्रूपसे स्वीकार न करके नाशवान्

यहाँ भगवान्ने 'माम् एति' पदोंसे यह भाव प्रकट किया है कि मनुष्य कर्मोंके द्वारा जिसकी सिद्धि चाहता है, वह परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध (नित्यप्राप्त) है। स्वतःसिद्ध वस्तुके लिये करना कैसा? जो वस्तु प्राप्त है, उसे प्राप्त करना कैसा? करनेसे तो उस वस्तुकी प्राप्ति होती है, जो पहले अप्राप्त थी।

एक उत्पत्ति होती है और एक खोज होती है। उत्पत्ति उसकी होती है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; जिसका पहले अभाव है और बादमें जिसका विनाश हो जाता है। खोज उसकी होती है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता है; जो पहलेसे विद्यमान है और नित्य-निरन्तर रहता है; किन्तु जो क्रिया और पदार्थरूप संसारका महत्त्व मान लेनेसे छिप गया है। जब मनुष्य क्रियाओं और पदार्थोंको केवल दूसरोंकी सेवामें लगा देता है, तब क्रिया-पदार्थरूप संसारसे स्वतः सम्बन्ध-विच्छेद और नित्यप्राप्त परमात्माका साक्षात् अनुभव हो जाता है। यही नित्यप्राप्तकी खोज है।

कर्तव्य-कर्मोंको न करके प्रमाद-आलस्य करना और कर्तव्य-कर्मोंको करके उनके फलकी इच्छा रखना—इन दोनों कारणोंसे मनुष्यको नित्यप्राप्त परमात्माके अनुभवमें बाधा लगती है। इस बाधाको दूर करनेका उपाय है—फलकी इच्छा न रखकर दूसरोंकी सेवाके रूपसे कर्तव्य-कर्म करना। फलकी इच्छा न रखकर कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही परमात्मासे हमारा जो स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्ध है, उसका अनुभव हो जाता है।

जगत्-रूपसे ही धारण कर रखा है—‘जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्’ (गीता ७।५)। इस धारणाको मिटानेके लिये साधकको दृढ़तासे ऐसा मानना चाहिये कि जो दीख रहा है, वह भगवान्का स्वरूप है और जो हो रहा है, वह भगवान्की लीला है। ऐसा मानने (स्वीकार करने)—पर जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहेगा और ‘भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है’—इसका अनुभव हो जायगा। दूसरे शब्दोंमें, संसार लुप्त हो जायगा और केवल भगवान् रह जायँगे। कारण कि प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्तिको भगवान्का स्वरूप और प्रत्येक क्रियाको भगवल्लीला माननेसे भोगासक्ति, राग-द्वेष नहीं रहेंगे। भोगासक्तिका नाश होनेपर जो क्रियाएँ पहले लौकिक दीखती थीं, वही क्रियाएँ अलौकिक भगवल्लीलारूपसे दीखने लगेंगी और जहाँ पहले भोगासक्ति थी, वहाँ भगवत्प्रेम हो जायगा।

भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं, उसीके अनुरूप लीला करते हैं*। जब वे अर्चावतार अर्थात् मूर्तिका रूप धारण करते हैं, तब वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। अगर वे अचल नहीं रहेंगे तो वह अर्चावतार कैसे रहेगा? भगवान्ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप आदि रूप भी धारण किये। उन्होंने जैसा रूप धारण किया, वैसी ही लीला की। जैसे, वराहावतारमें भगवान्ने सूअर बनकर लीला की और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण बनकर लीला की। इससे साधकको यह समझना चाहिये कि अभी भी जो हो रहा है, वह सब भगवान्की लीला ही हो रही है!

सम्बन्ध—भगवान्के जन्म-कर्मकी दिव्यताको जाननेवाले कैसे होते हैं—इसका वर्णन आगेके श्लोकमें करते हैं।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

वीतरागभयक्रोधाः = राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित,	माम् = मेरे (ही) उपाश्रिताः = आश्रित (तथा) ज्ञानतपसा = ज्ञानरूप तपसे पूताः = पवित्र हुए	बहवः = बहुत-से (भक्त) मद्भावम् = मेरे स्वरूपको आगताः = प्राप्त हो चुके हैं।
मन्मयाः = मुझमें तल्लीन,		

व्याख्या—‘वीतरागभयक्रोधाः’—परमात्मासे विमुख होनेपर नाशवान् पदार्थोंमें ‘राग’ हो जाता है। रागसे फिर प्राप्तमें ‘ममता’ और अप्राप्तकी ‘कामना’ उत्पन्न होती है। रागवाले (प्रिय) पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर तो ‘लोभ’ होता है, पर उनकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचनेपर (बाधा पहुँचानेवालेपर) ‘क्रोध’ होता है। यदि बाधा पहुँचानेवाला व्यक्ति अपनेसे अधिक बलवान् हो और उसपर अपना वश न चल सकता हो तथा समयपर वह हमारा अनिष्ट कर देगा—ऐसी

* भगवान् श्रीकृष्ण उत्तंक ऋषिसे कहते हैं—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥

तैस्तैर्वैशेष्यैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४।१३-१४)

‘मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनु रूप बर्ताव करता हूँ।’

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन। तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः ॥

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन। तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः ॥

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्। यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम् ॥

(महाभारत, आश्व० ५४।१७-१९)

‘भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनियोंमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है।’

‘जब मैं गन्धर्वयोनियोंमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।’

‘जब मैं नागयोनियोंमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर मैं उन्हींके आचार-विचारका यथावत्-रूपसे पालन करता हूँ।’

सम्भावना हो तो 'भय' होता है। इस प्रकार नाशवान् पदार्थोंके रागसे ही भय, क्रोध, लोभ, ममता, कामना आदि सभी दोषोंकी उत्पत्ति होती है। रागके मिटनेपर ये सभी दोष मिट जाते हैं। पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर, दूसरोंका और दूसरोंके लिये मानकर उनकी सेवा करनेसे राग मिटता है। कारण कि वास्तवमें पदार्थ और क्रियासे हमारा सम्बन्ध है ही नहीं।

अपना कोई प्रयोजन न रहनेपर भी भगवान् केवल हमारे कल्याणके लिये ही अवतार लेते हैं। कारण कि वे प्राणीमात्रके परम सुहृद् हैं और उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ मात्र जीवोंके कल्याणके लिये ही होती हैं। इस प्रकार भगवान्की परम सुहृत्तापर दृढ़ विश्वास होनेसे भगवान्में आकर्षण हो जाता है। भगवान्में आकर्षण होनेसे संसारका आकर्षण (राग) स्वतः मिट जाता है। जैसे, बचपनमें बालकोंका कंकड़-पत्थरोंमें आकर्षण होता है और उनसे वे खेलते हैं। खेलमें वे कंकड़-पत्थरोंके लिये लड़ पड़ते हैं। एक कहता है कि यह मेरा है और दूसरा कहता है कि यह मेरा है। इस प्रकार गलीमें पड़े कंकड़-पत्थरोंमें ही उन्हें महत्ता दीखती है। परन्तु जब वे बड़े हो जाते हैं, तब कंकड़-पत्थरोंमें उनका आकर्षण मिट जाता है और रुपयोंमें आकर्षण हो जाता है। रुपयोंमें आकर्षण होनेपर उन्हें कंकड़-पत्थरोंमें अथवा खिलौनोंमें कोई महत्ता नहीं दीखती। ऐसे ही जब मनुष्यकी परमात्मामें लगन लग जाती है, तब उसके लिये संसारके रुपये और सब पदार्थ आकर्षक न रहकर फीके पड़ जाते हैं। उसका संसारमें आकर्षण या राग मिट जाता है। राग मिटते ही भय और क्रोध—दोनों मिट जाते हैं, क्योंकि ये दोनों रागके ही आश्रित रहते हैं।

'मन्मयाः'—भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेसे मनुष्योंकी भगवान्में प्रियता हो जाती है, प्रियता होनेसे वे भगवान्के ही शरण हो जाते हैं और शरण होनेसे वे स्वयं 'मन्मयाः' अर्थात् भगवन्मय हो जाते हैं।

सांसारिक भोगोंमें आकर्षणवाले मनुष्य भोगोंकी कामनाओंमें तन्मय हो जाते हैं—'कामात्मानः' (गीता २। ४३) और भगवान्में आकर्षणवाले मनुष्य भगवान्में तन्मय हो जाते

हैं—'तन्मयाः' (नारदभक्तिसूत्र ७०)। वे हर समय भगवान्में ही तल्लीन रहते हैं। उनके विचारों, आचरणों आदिमें भगवान्की ही मुख्यता रहती है। प्रेमकी अधिकताके कारण वे भगवत्स्वरूप बन जाते हैं, मानो उनकी अपनी कोई अलग सत्ता ही न हो।*

'मामुपाश्रिताः'—'वीतरागभयक्रोधाः' में संसारसे स्वयंका सम्बन्ध-विच्छेद है और 'मन्मयाः माम् उपाश्रिताः' में भगवान्की तल्लीनता है।

किसी-न-किसीका आश्रय लिये बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता। भगवान्का अंश जीव भगवान्से विमुख होकर दूसरेका आश्रय लेता है तो वह आश्रय टिकता नहीं, प्रत्युत मिटता जाता है। धनादि नाशवान् पदार्थोंका आश्रय पतन करनेवाला होता है। इतना ही नहीं, शुभ-कर्मोंको करनेमें बुद्धिका, भगवत्प्राप्तिके साधनोंका तथा भोग और संग्रहके त्यागका आश्रय लेनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें देरी लगती है। जबतक मनुष्य स्वयं (स्वरूपसे) भगवान्के आश्रित नहीं हो जाता, तबतक उसकी पराधीनता मिटती नहीं और वह दुःख पाता ही रहता है।

संसारके पदार्थोंमें मनुष्यका आकर्षण और आश्रय अलग-अलग होता है, जैसे—मनुष्यका आकर्षण तो स्त्री, पुत्र आदिमें होता है और आश्रय बड़ोंका होता है। परन्तु भगवान्में लगे हुए मनुष्यका भगवान्में ही आकर्षण होता है और भगवान्का ही आश्रय होता है; क्योंकि प्रिय-से-प्रिय भी भगवान् हैं और बड़े-से-बड़े भी भगवान् हैं।

'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः'—यद्यपि ज्ञानयोग-(सांख्यनिष्ठा-) से भी मनुष्य पवित्र हो सकता है, तथापि यहाँ भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताको तत्त्वसे जाननेको 'ज्ञान' कहा गया है। इस ज्ञानसे मनुष्य पवित्र हो जाता है; क्योंकि भगवान् पवित्रोंसे भी पवित्र हैं—'पवित्राणां पवित्रं यः।' भगवान्का ही अंश होनेसे जीवमें भी स्वतः-स्वाभाविक पवित्रता है—'चेतन अमल सहज सुख रासी' (मानस ७। ११७। १)। नाशवान् पदार्थोंको महत्त्व देनेसे, उनको अपना माननेसे ही यह अपवित्र होता है; क्योंकि नाशवान् पदार्थोंकी ममता ही मल (अपवित्रता)

* गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः।

असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। ३)

'अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन-बोलन आदिमें श्रीकृष्णकी घ्यारी गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं; उनके शरीरमें भी वही गति-मति, वही भाव-भंगी उतर आयी। वे अपनेको सर्वथा भूलकर श्रीकृष्णस्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-विलासका अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं।'

है*। भगवान्के जन्म-कर्मके तत्त्वको जाननेसे जब नाशवान् पदार्थोंका आकर्षण, उनकी ममता सर्वथा मिट जाती है, तब सब मलिनता नष्ट हो जाती है और मनुष्य परम पवित्र हो जाता है।

कर्मयोगका प्रसंग होनेसे उपर्युक्त पदोंमें आये 'ज्ञान' शब्दका अर्थ कर्मयोगका ज्ञान भी माना जा सकता है। कर्मयोगका ज्ञान है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पद, योग्यता, अधिकार, धन, जमीन आदि मिली हुई मात्र वस्तुएँ संसारकी और संसारके लिये ही हैं, अपनी और अपने लिये नहीं हैं। कारण कि स्वयं (स्वरूप) नित्य है; अतः उसके साथ अनित्य वस्तु कैसे रह सकती है तथा उसके काम भी कैसे आ सकती है? शरीरादि वस्तुएँ जन्मसे पहले भी हमारे साथ नहीं थीं और मरनेके बाद भी नहीं रहेंगी तथा इस समय भी उनका प्रतिक्षण हमसे सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। इन मिली हुई वस्तुओंका सदुपयोग करनेका ही अधिकार है, अपनी माननेका अधिकार नहीं। ये वस्तुएँ संसारकी ही हैं; अतः इन्हें संसारकी ही सेवामें लगाना है। यही इनका सदुपयोग है। इनको अपनी और अपने लिये मानना ही वास्तवमें बन्धन या अपवित्रता है।

इस प्रकार नाशवान् वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानना 'ज्ञानतप' है; जिससे मनुष्य परम पवित्र हो

जाता है। जितने भी तप हैं, उन सबसे बढ़कर 'ज्ञानतप' है। इस ज्ञानतपसे जड़के साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद हो जाता है। जबतक मनुष्य जड़के साथ अपना सम्बन्ध मानता रहता है, तबतक दूसरी तपस्यासे उसकी उतनी पवित्रता नहीं होती, जितनी पवित्रता ज्ञानतपसे जड़का सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे होती है। इस ज्ञानतपसे पवित्र होकर मनुष्य भगवान्के भाव-(सत्ता-) को अर्थात् सच्चिदानन्दधन परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है कि जैसे भगवान् नित्य-निरन्तर रहते हैं, ऐसे वह भी उनमें नित्य-निरन्तर रहता है; जैसे भगवान् निर्लिप्त-निर्विकार रहते हैं, ऐसे वह भी निर्लिप्त-निर्विकार रहता है; जैसे भगवान्के लिये कुछ भी करना शेष नहीं है, ऐसे ही उसके लिये भी कुछ करना शेष नहीं रहता। ज्ञानमार्गसे भी मनुष्य इसी प्रकार भगवान्के भावको प्राप्त हो जाता है (गीता—चौदहवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

पहले भी बहुत-से भक्त ज्ञानतपसे पवित्र होकर भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं। अतः साधकोंको वर्तमानमें ही ज्ञानतपसे पवित्र होकर भगवान्को प्राप्त कर लेना चाहिये। भगवान्को प्राप्त करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं, कोई भी परतन्त्र नहीं है। कारण कि मानव-शरीर भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिला है।

सम्बन्ध—जन्मकी दिव्यताका वर्णन तो हो गया, अब कर्मोंकी दिव्यता क्या होती है—इस विषयका आरम्भ करते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	अहम्	= मैं	मनुष्याः	= सभी मनुष्य
ये	= जो भक्त	तान्	= उन्हें	सर्वशः	= सब प्रकारसे
यथा	= जिस प्रकार	तथा, एव	= उसी प्रकार	मम	= मेरे
माम्	= मेरी	भजामि	= आश्रय देता हूँ;	वर्त्म	= मार्गका
प्रपद्यन्ते	= शरण लेते हैं,		(क्योंकि)	अनुवर्तन्ते	= अनुसरण करते हैं।

व्याख्या—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'— भक्त भगवान्की जिस भावसे, जिस सम्बन्धसे, जिस प्रकारसे शरण लेता है, भगवान् भी उसे उसी भावसे, उसी सम्बन्धसे, उसी प्रकारसे आश्रय देते हैं। जैसे, भक्त भगवान्को अपना गुरु मानता है तो वे श्रेष्ठ गुरु बन जाते हैं, शिष्य मानता है तो वे श्रेष्ठ शिष्य बन जाते हैं, माता-

पिता मानता है तो वे श्रेष्ठ माता-पिता बन जाते हैं, पुत्र मानता है तो वे श्रेष्ठ पुत्र बन जाते हैं, भाई मानता है तो वे श्रेष्ठ भाई बन जाते हैं, सखा मानता है तो वे श्रेष्ठ सखा बन जाते हैं, नौकर मानता है तो वे श्रेष्ठ नौकर बन जाते हैं। भक्त भगवान्के बिना व्याकुल हो जाता है तो भगवान् भी भक्तके बिना व्याकुल हो जाते हैं।

* 'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७। ११७ क); 'ममतामेध्यदूषितः' (योगवासिष्ठ ६। २। ५३। ११)

अर्जुनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाभाव था तथा वे उन्हें अपना सारथि बनाना चाहते थे; अतः भगवान् सखाभावसे उनके सारथि बन गये। विश्वामित्र ऋषिने भगवान् श्रीरामको अपना शिष्य मान लिया तो भगवान् उनके शिष्य बन गये। इस प्रकार भक्तोंके श्रद्धाभावके अनुसार भगवान्का वैसा ही बननेका स्वभाव है।

अनन्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी भगवान् भी अपने ही बनाये हुए साधारण मनुष्योंके भावोंके अनुसार बर्ताव करते हैं, यह उनकी कितनी विलक्षण उदारता, दयालुता और अपनापन है ?

भगवान् विशेषरूपसे भक्तोंके लिये ही अवतार लेते हैं—ऐसा प्रस्तुत प्रकरणसे सिद्ध होता है। भक्तलोग जिस भावसे, जिस रूपमें भगवान्की सेवा करना चाहते हैं, भगवान्को उनके लिये उसी रूपमें आना पड़ता है। जैसे, उपनिषद्में आया है—‘एकाकी न रमते’ (बृहदारण्यक० १।४।३)—अकेले भगवान्का मन नहीं लगा, तो वे ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होकर खेल खेलने लगे। ऐसे ही जब भक्तोंके मनमें भगवान्के साथ खेल खेलनेकी इच्छा हो जाती है, तब भगवान् उनके साथ खेल खेलने—(लीला करने—) के लिये प्रकट हो जाते हैं। भक्त भगवान्के बिना नहीं रह सकता तो भगवान् भी भक्तके बिना नहीं रह सकते।

यहाँ आये ‘यथा’ और ‘तथा’—इन प्रकारवाचक पदोंका अभिप्राय ‘सम्बन्ध’, ‘भाव’ और ‘लगन’ से है। भक्त और भगवान्का प्रकार एक-सा होनेपर भी इनमें एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि भगवान् भक्तकी चालसे नहीं चलते, प्रत्युत अपनी चाल—(शक्ति—) से चलते हैं*। भगवान् सर्वत्र विद्यमान, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, परम सुहृद् और सत्यसंकल्प हैं। भक्तको केवल अपनी पूरी शक्ति लगा देनी है, फिर भगवान् भी अपनी पूरी शक्तिसे उसे प्राप्त हो जाते हैं।

भगवत्प्राप्तिमें बाधा साधक स्वयं लगाता है; क्योंकि भगवत्प्राप्तिके लिये वह समझ, सामग्री, समय और सामर्थ्यको अपनी मानकर उन्हें पूरा नहीं लगाता, प्रत्युत अपने पास बचाकर रख लेता है। यदि वह उन्हें अपना न मानकर उन्हें पूरा लगा दे तो उसे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। कारण कि यह समझ, सामग्री आदि उसकी अपनी नहीं हैं; प्रत्युत भगवान्से मिली हैं; भगवान्की हैं।

अतः इन्हें अपनी मानना ही बाधा है। साधक स्वयं भी भगवान्का ही अंश है। उसने खुद अपनेको भगवान्से अलग माना है, भगवान्ने नहीं।

भक्ति (प्रेम) कर्मजन्य अर्थात् किसी साधन-विशेषका फल नहीं है। भगवान्के सर्वथा शरण होनेवालेको भक्ति स्वतः प्राप्त होती है। दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भावोंमें सबसे श्रेष्ठ शरणागतिका भाव है। यहाँ भगवान् मानो इस बातको कह रहे हैं कि तुम अपना सब कुछ मुझे दे दोगे तो मैं भी अपना सब कुछ तुम्हें दे दूँगा और तुम अपने-आपको मुझे दे दोगे तो मैं भी अपने-आपको तुम्हें दे दूँगा। भगवत्प्राप्तिका कितना सरल और सस्ता सौदा है!

अपने-आपको भगवच्चरणोंमें समर्पित करनेके बाद भगवान् भक्तकी पुरानी त्रुटियोंको यादतक नहीं करते। वे तो वर्तमानमें साधकके हृदयका दृढ़ भाव देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की।

करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस १।२९।३)

इस (ग्यारहवें) श्लोकमें द्वैत-अद्वैत, सगुण-निर्गुण, सायुज्य-सामीप्य आदि शास्त्रीय विषयका वर्णन नहीं है, प्रत्युत भगवान्से अपनेपनका ही वर्णन है। जैसे, नवें श्लोकमें भगवान्के जन्म-कर्मकी दिव्यताको जाननेसे भगवत्प्राप्ति होनेका वर्णन है। ‘केवल भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्का ही हूँ; दूसरा कोई भी मेरा नहीं है और मैं किसीका भी नहीं हूँ’—इस प्रकार भगवान्में अपनापन करनेसे उनकी प्राप्ति शीघ्र एवं सुगमतासे हो जाती है। अतः साधकको केवल भगवान्में ही अपनापन मान लेना चाहिये (जो वास्तवमें है), चाहे समझमें आये अथवा न आये। मान लेनेपर जब संसारके झूठे सम्बन्ध भी सच्चे प्रतीत होने लगते हैं, फिर जो भगवान्का सदासे ही सच्चा सम्बन्ध है, वह अनुभवमें क्यों नहीं आयेगा? अर्थात् अवश्य आयेगा।

शंका—जो भगवान्को जिस भावसे स्वीकार करते हैं, भगवान् भी उनसे उसी भावसे बर्ताव करते हैं, तो फिर यदि कोई भगवान्को द्वेष, वैर आदिके भावसे स्वीकार करेगा तो क्या भगवान् भी उससे उसी (द्वेष आदिके) भावसे बर्ताव करेंगे ?

समाधान—यहाँ ‘प्रपद्यन्ते’ पदसे भगवान्की प्रपत्ति

* दरिया दूषण दास में, नहीं राम में दोष। जन चाले इक पाँवड़े, हरि चाले सौ कोस॥

अर्थात् शरणागतिका ही विषय है; उनसे द्वेष, वैर आदिका विषय नहीं। अतः यहाँ इस विषयमें शंका ही नहीं उठ सकती। फिर भी इसपर थोड़ा विचार करें तो भगवान्‌के स्वीकार करनेका तात्पर्य है—कल्याण करना। जो भगवान्‌को जिस भावसे स्वीकार करता है, भगवान् भी उससे वैसा ही आचरण करके अन्तमें उसका कल्याण ही करते हैं^१। भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। इसलिये जिसका जिसमें हित होता है, भगवान् उसके लिये वैसा ही प्रबन्ध कर देते हैं। वैर-द्वेष रखनेवालोंका भी जिससे कल्याण हो जाय, वैसा ही भगवान् करते हैं। [वैर-द्वेष रखनेवाले भगवान्‌का बिगाड़ भी क्या कर लेंगे?] अंगदजीको रावणकी सभामें भेजते समय भगवान् श्रीराम कहते हैं कि वही बात कहना, जिससे हमारा काम भी हो और रावणका हित भी हो—‘काजु हमार तासु हित होई’ (मानस ६। १७। ४)।

भगवान्‌की सुहृत्ताकी तो बात ही क्या, भक्त भी समस्त प्राणियोंके सुहृद् होते हैं—‘सुहृदः सर्वदेहिनाम्’ (श्रीमद्भा० ३। २५। २१)। जब भक्तोंसे भी किसीका किंचिन्मात्र भी अहित नहीं होता, तब भगवान्‌से किसीका अहित हो ही कैसे सकता है? भगवान्‌से किसी प्रकारका भी सम्बन्ध जोड़ा जाय, वह कल्याण करनेवाला ही होता है; क्योंकि भगवान् परम दयालु, परम सुहृद् और चिन्मय हैं। जैसे गंगामें स्नान वैशाख मासमें किया जाय अथवा माघ मासमें, दोनोंका ही माहात्म्य एक समान है। परन्तु वैशाखके स्नानमें जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी प्रसन्नता माघके स्नानमें नहीं होती। इसी प्रकार भक्ति-प्रेमपूर्वक भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़नेवालोंको जैसा आनन्द होता है, वैसा आनन्द वैर-द्वेषपूर्वक भगवान्‌से सम्बन्ध जोड़ने-वालोंको नहीं होता।

‘मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः’—श्रेष्ठ

पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी उसीके अनुसार आचरण करने लग जाते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। भगवान् सबसे श्रेष्ठ (सर्वोपरि) हैं, इसलिये सभी लोग उनके मार्गका अनुसरण करते हैं। तीसरे अध्यायमें तेईसवें श्लोकके उत्तरार्धमें भी यही बात (उपर्युक्त पदोंसे ही) कही गयी है।

साधक भगवान्‌के साथ जिस प्रकारका सम्बन्ध मानता है, भगवान् उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध माननेके लिये तैयार रहते हैं। महाराज दशरथजी भगवान् श्रीरामको पुत्रभावसे स्वीकार करते हैं, तो भगवान् उनके सच्चे पुत्र बन जाते हैं और सामर्थ्यवान् होकर भी ‘पिता’ दशरथजीके वचनोंको टालनेमें अपनेको असमर्थ मानते हैं^२। इस प्रकारके आचरणोंसे भगवान् यह रहस्य प्रकट करते हैं कि यदि तुम्हारी संसारमें किसीके साथ सम्बन्धके नाते प्रियता हो तो वही सम्बन्ध तुम मेरे साथ कर लो, जैसे—मातामें प्रियता हो तो मेरेको अपनी माता मान लो, पितामें प्रियता हो तो मेरेको अपना पिता मान लो; पुत्रमें प्रियता हो तो मेरेको अपना पुत्र मान लो, आदि। ऐसा माननेसे मेरेमें वास्तविक प्रियता हो जायगी और मेरी प्राप्ति सुगमतापूर्वक हो जायगी।

दूसरी बात, भगवान् अपने आचरणोंसे यह शिक्षा देते हैं कि जिस प्रकार मेरे साथ जो जैसा सम्बन्ध मानता है, उसके लिये मैं भी वैसा ही बन जाता हूँ, उसी प्रकार तुम्हारे साथ जो जैसा सम्बन्ध मानता है, तुम भी उसके लिये वैसे ही बन जाओ; जैसे—माता-पिताके लिये तुम सुपुत्र बन जाओ, पत्नीके लिये तुम सुयोग्य पति बन जाओ, बहनके लिये तुम श्रेष्ठ भाई बन जाओ, आदि। परन्तु बदलेमें उनसे कुछ चाहो मत; जैसे—कुछ लेनेकी इच्छासे माता-पिताको अपने न मानकर केवल सेवा करनेके लिये ही उन्हें अपने मानो। ऐसा मानना ही भगवान्‌के मार्गका अनुसरण करना है। अभिमानरहित होकर निःस्वार्थभावसे दूसरेकी सेवा

१-कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदद्यं हित्वा बहवस्तदगतिं गताः ॥

(श्रीमद्भा० ७। १। २९)

‘अनेक मनुष्य कामसे, द्वेषसे, भयसे और स्नेहसे अपने मनको भगवान्‌में लगाकर एवं अपने सारे पाप धोकर वैसे ही भगवान्‌को प्राप्त हुए हैं, जैसे भक्त भक्तिसे।’

२-अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥

(वाल्मीकि०, अयोध्या० १८। २८-२९)

भगवान् श्रीराम कहते हैं—‘मैं महाराज पिताजीके कहनेपर आगमें भी प्रवेश कर सकता हूँ, तीक्ष्ण विषका भी भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।’

करनेसे शीघ्र ही दूसरेकी ममता छूटकर भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, जिससे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

विशेष बात

अहंकाररहित होकर निःस्वार्थभावसे कहीं भी प्रेम किया जाय, तो वह प्रेम स्वतः प्रेममय भगवान्‌की तरफ चला जाता है। कारण कि अपना अहंकार और स्वार्थ ही भगवत्प्रेममें बाधा लगाता है। इन दोनोंके कारण मनुष्यका प्रेमभाव सीमित हो जाता है और इनका त्याग करनेपर उसका प्रेमभाव व्यापक हो जाता है। प्रेमभाव व्यापक होनेपर उसके माने हुए सभी बनावटी सम्बन्ध मिट जाते हैं और भगवान्‌का स्वाभाविक नित्य-सम्बन्ध जाग्रत् हो जाता है।

जीवमात्रका परमात्माके साथ स्वतः नित्य-सम्बन्ध है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। परन्तु जबतक जीव इस सम्बन्धको पहचानता नहीं और दूसरा सम्बन्ध

जोड़ लेता है, तबतक वह जन्म-मरणके बन्धनमें पड़ा रहता है। उसका यह बन्धन दो ओरसे होता है— एक तो वह भगवान्‌के साथ अपने नित्य-सम्बन्धको पहचानता नहीं और दूसरे, जिसके साथ वास्तवमें अपना सम्बन्ध है नहीं, उसके सम्बन्धको नित्य मान लेता है। जब जीव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' के अनुसार अपना सम्बन्ध केवल भगवान्‌से मान लेता है अर्थात् पहचान लेता है, तब उसे भगवान्‌से अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

भगवान्‌के नित्य-सम्बन्धको पहचानना ही भगवान्‌के शरण होना है। शरण होनेपर भक्त निश्चिन्त, निर्भय, निःशोक और निःशंक हो जाता है। फिर उसके द्वारा भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध कोई क्रिया कैसे हो सकती है? उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌के आज्ञानुसार ही होती हैं— 'मम वर्तमानुवर्तन्ते।'

परिशिष्ट भाव—यद्यपि यह संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, तथापि जो इसको जिस रूपसे देखता है, भगवान् भी उसके लिये उसी रूपसे प्रकट हो जाते हैं। हम अपनेको शरीर मानकर अपने लिये वस्तुओंकी आवश्यकता मानते हैं और उनकी इच्छा करते हैं तो भगवान् भी उन वस्तुओंके रूपमें हमारे सामने आते हैं, हम असत्में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। जैसे बालक खिलौना चाहता है तो पिता रुपये खर्च करके भी उसको खिलौना लाकर देता है, ऐसा ही हम जो चाहते हैं, परम दयालु भगवान् (स्वयं सदा सत्स्वरूप रहते हुए भी) उसी रूपसे हमारे सामने आते हैं। अगर हम भोगोंको न चाहें तो भगवान्‌को भोगरूपसे क्यों आना पड़े? बनावटी रूप क्यों धारण करना पड़े?

भगवान्‌के स्वभावमें 'यथा-तथा' होते हुए भी जीवपर उनकी बड़ी भारी कृपा है; क्योंकि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! अभिमानके सिवाय जीवमें और क्या सामर्थ्य है? फिर भी जीवका भगवान्‌में आकर्षण होता है तो भगवान्‌का भी जीवमें आकर्षण होता है। जैसे, विदुरानीजी अपने-आपको भूल गयीं तो भगवान् भी अपने-आपको भूल गये और केलेके छिलके खाने लगे तथा उसीमें आनन्द लेने लगे!

भगवान्‌के स्वभावमें 'यथा-तथा' केवल क्रियामें है, भावमें नहीं। भगवान्‌का आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिके प्रति जो स्नेह है, कृपा है, वैसा ही स्नेह, कृपा नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिके प्रति भी है। इसलिये भगवान्‌के 'यथा-तथा' में स्वार्थभाव नहीं है, प्रत्युत यह तो भगवान्‌की महत्ता है कि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! फिर भी वे जीवको अपना मित्र बनाते हैं, उसको अपने समान दर्जा देते हैं! भगवान् अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं रखते—यह उनकी महत्ता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बताया कि जो मुझे जिस भावसे स्वीकार करता है, मैं भी उसे उसी भावसे स्वीकार करता हूँ अर्थात् मेरी प्राप्ति बहुत सरल और सुगम है। ऐसा होनेपर भी लोग भगवान्‌का आश्रय क्यों नहीं लेते—इसका कारण आगेके श्लोकमें बताते हैं।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।

क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

कर्मणाम्	= कर्मोंकी	यजन्ते	= उपासना किया करते हैं;	कर्मजा	= कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली
सिद्धिम्	= सिद्धि (फल)	हि	= क्योंकि	सिद्धिः	= सिद्धि
काङ्क्षन्तः	= चाहनेवाले (मनुष्य)	इह	= इस	क्षिप्रम्	= जल्दी
देवताः	= देवताओंकी	मानुषे, लोके	= मनुष्यलोकमें	भवति	= मिल जाती है।

व्याख्या—‘काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः’—मनुष्यको नवीन कर्म करनेका अधिकार मिला हुआ है। कर्म करनेसे ही सिद्धि होती है—ऐसा प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। इस कारण मनुष्यके अन्तःकरणमें यह बात दृढ़तासे बैठी हुई है कि कर्म किये बिना कोई भी वस्तु नहीं मिलती। वे ऐसा समझते हैं कि सांसारिक वस्तुओंकी तरह भगवान्की प्राप्ति भी कर्म (तप, ध्यान, समाधि आदि) करनेसे ही होती है। नाशवान् पदार्थोंकी कामनाओंके कारण उनकी दृष्टि इस वास्तविकताकी ओर जाती ही नहीं कि सांसारिक वस्तुएँ कर्मजन्य हैं, एकदेशीय हैं, हमें नित्य प्राप्त नहीं हैं, हमारेसे अलग हैं और परिवर्तनशील हैं, इसलिये उनकी प्राप्तिके लिये कर्म करने आवश्यक हैं। परन्तु भगवान् कर्मजन्य नहीं हैं, सर्वत्र परिपूर्ण हैं, हमें नित्यप्राप्त हैं, हमारेसे अलग नहीं हैं और अपरिवर्तनशील हैं, इसलिये भगवत्प्राप्तिमें सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिका नियम नहीं चल सकता। भगवत्प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे होती है। उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न होनेमें खास कारण सांसारिक भोगोंकी कामना ही है।

भगवान् तो पिताके समान हैं और देवता दूकानदारके समान। अगर दूकानदार वस्तु न दे, तो उसको पैसे लेनेका अधिकार नहीं है; परन्तु पिताको पैसे लेनेका भी अधिकार है और वस्तु देनेका भी। बालकको पितासे कोई वस्तु लेनेके लिये कोई मूल्य नहीं देना पड़ता, पर दूकानदारसे वस्तु लेनेके लिये मूल्य देना पड़ता है। ऐसे ही भगवान्से कुछ लेनेके लिये कोई मूल्य देनेकी जरूरत नहीं है; परन्तु देवताओंसे कुछ प्राप्त करनेके लिये विधिपूर्वक कर्म करने पड़ते हैं। दूकानदारसे बालक दियासलाई, चाकू आदि हानिकारक वस्तुएँ भी पैसे देकर खरीद सकता है; परन्तु यदि वह पितासे ऐसी हानिकारक वस्तुएँ माँगे तो वे उसे नहीं देंगे और पैसे भी ले लेंगे। पिता वही वस्तु देते हैं, जिसमें बालकका हित हो। इसी प्रकार देवतालोग अपने उपासकोंको (उनकी उपासना सांगोपांग होनेपर) उनके हित-अहितका विचार किये बिना उनकी इच्छित वस्तुएँ दे देते हैं; परन्तु परमपिता भगवान् अपने भक्तोंको अपनी

इच्छासे वे ही वस्तुएँ देते हैं, जिसमें उनका परमहित हो। ऐसा होनेपर भी नाशवान् पदार्थोंकी आसक्ति, ममता और कामनाके कारण अल्प-बुद्धिवाले मनुष्य भगवान्की महत्ता और सुहृत्ताको नहीं जानते, इसलिये वे अज्ञानवश देवताओंकी उपासना करते हैं (गीता—सातवें अध्यायके बाईसवेंसे तेईसवें श्लोकतक तथा नवें अध्यायका तेईसवाँ-चौबीसवाँ श्लोक)।

‘क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा’—यह मनुष्यलोक कर्मभूमि है—‘कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके’ (गीता १५। २)। इसके सिवाय दूसरे लोक (स्वर्ग-नरकादि) भोगभूमियाँ हैं। मनुष्यलोकमें भी नया कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको ही है, पशु-पक्षी आदिको नहीं। मनुष्य-शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही लोक तथा परलोकमें भोगा जाता है।

मनुष्यलोकमें कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्य रहते हैं—‘कर्मसङ्गिषु जायते’ (गीता १४। १५)। कर्मोंकी आसक्तिके कारण वे कर्मजन्य सिद्धिपर ही लुब्ध होते हैं। कर्मोंसे जो सिद्धि होती है, वह यद्यपि शीघ्र मिल जाती है, तथापि वह सदा रहनेवाली नहीं होती। जब कर्मोंका आदि और अन्त होता है, तब उनसे होनेवाली सिद्धि (फल) सदा कैसे रह सकती है? इसलिये नाशवान् कर्मोंका फल भी नाशवान् ही होता है। परन्तु कामनावाले मनुष्यकी दृष्टि शीघ्र मिलनेवाले फलपर तो जाती है, पर उसके नाशकी ओर नहीं जाती। विधिपूर्वक सांगोपांग किये गये कर्मोंका फल देवताओंसे शीघ्र मिल जाया करता है; इसलिये वे देवताओंकी ही शरण लेते हैं और उन्हींकी आराधना करते हैं। कर्मजन्य फल चाहनेके कारण वे कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं होते और परिणामस्वरूप बारंबार जन्मते-मरते रहते हैं।

जो वास्तविक सिद्धि है, वह कर्मजन्य नहीं है। वास्तविक सिद्धि ‘भगवत्प्राप्ति’ है। भगवत्प्राप्तिके साधन—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग भी कर्मजन्य नहीं हैं। योगकी सिद्धि कर्मोंके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है।

शंका—‘कर्मयोग’ की सिद्धि तो कर्म करनेसे ही बतायी गयी है—‘आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते’

(गीता ६।३), तो फिर कर्मयोग कर्मजन्य कैसे नहीं है?

समाधान—कर्मयोगमें कर्मोंसे और कर्म-सामग्रीसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही कर्म किये जाते हैं। योग (परमात्माका नित्य-सम्बन्ध) तो स्वतःसिद्ध और स्वाभाविक है। अतः योग अथवा परमात्मप्राप्ति कर्मजन्य नहीं है। वास्तवमें कर्म सत्य नहीं है, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिके साधनरूप कर्मोंका विधान सत्य है। कोई भी कर्म जब सत्के लिये किया जाता है, तब उसका परिणाम सत् होनेसे उस कर्मका नाम भी सत् हो जाता है—‘**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते**’ (गीता १७।२७)।

अपने लिये कर्म करनेसे ही ‘योग’-(परमात्माके साथ नित्ययोग-) का अनुभव नहीं होता। कर्मयोगमें दूसरोंके लिये ही सब कर्म किये जाते हैं, अपने लिये अर्थात् फल-प्राप्तिके लिये नहीं—‘**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु**

कदाचन’ (गीता २।४७)। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ श्लोक) और दूसरोंके लिये कर्म करनेसे वह मुक्त होता है (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। कर्मयोगमें दूसरोंके लिये ही सब कर्म करनेसे कर्म और फलसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जो ‘योग’का अनुभव करानेमें हेतु है।

कर्म करनेमें ‘पर’ अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, व्यक्ति, देश, काल आदि परिवर्तनशील वस्तुओंकी सहायता लेनी पड़ती है। ‘पर’की सहायता लेना परतन्त्रता है। स्वरूप ज्यों-का-त्यों है। उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये उसकी अनुभूतिमें ‘पर’ कहे जानेवाले शरीरादि पदार्थोंके सहयोगकी लेशमात्र भी अपेक्षा, आवश्यकता नहीं है। ‘पर’से माने हुए सम्बन्धका त्याग होनेसे स्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है।

सम्बन्ध—आठवें श्लोकमें अपने अवतारके उद्देश्यका वर्णन करके नवें श्लोकमें भगवान्ने अपने कर्मोंकी दिव्यताको जाननेका माहात्म्य बताया। कर्मजन्य सिद्धि चाहनेसे ही कर्मोंमें अदिव्यता (मलिनता) आती है। अतः कर्मोंमें दिव्यता (पवित्रता) कैसे आती है—इसे बतानेके लिये अब भगवान् अपने कर्मोंकी दिव्यताका विशेष वर्णन करते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

मया = मेरे द्वारा
गुणकर्मविभागशः = गुणों और कर्मोंके विभाग-पूर्वक
चातुर्वर्ण्यम् = चारों वर्णोंकी
सृष्टम् = रचना की गयी है।
तस्य = उस (सृष्टि-रचना आदि)-का
कर्तारम् = कर्ता होनेपर
अपि = भी

माम् = मुझे
अव्ययम् = अविनाशी परमेश्वरको (तू)
अकर्तारम् = अकर्ता
विद्धि = जान! (कारण कि)
कर्मफले = कर्मोंके फलमें
मे = मेरी
स्पृहा = स्पृहा
न = नहीं है, (इसलिये)
माम् = मुझे

कर्माणि = कर्म
न, लिम्पन्ति = लिप्त नहीं करते।
इति = इस प्रकार
यः = जो
माम् = मुझे
अभिजानाति = तत्त्वसे जान लेता है,
सः = वह (भी)
कर्मभिः = कर्मोंसे
न = नहीं
बध्यते = बँधता।

व्याख्या—‘चातुर्वर्ण्यं * मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः’—पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके अनुसार

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंमें न्यूनाधिकता रहती है। सृष्टि-रचनाके समय उन गुणों और कर्मोंके अनुसार

* ‘चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्’ यहाँपर ‘चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्’ इस वार्तिकसे स्वार्थमें ‘घ्यञ् प्रत्यय’ किया गया है।

भगवान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी रचना करते हैं*। मनुष्यके सिवाय देव, पितर, तिर्यक् आदि दूसरी योनियोंकी रचना भी भगवान् गुणों और कर्मोंके अनुसार ही करते हैं। इसमें भगवान्की किंचिन्मात्र भी विषमता नहीं है।

‘चातुर्वर्ण्यम्’ पद प्राणिमात्रका उपलक्षण है। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य ही चार प्रकारके नहीं होते, अपितु पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भी चार प्रकारके होते हैं; जैसे—पक्षियोंमें कबूतर आदि ब्राह्मण, बाज आदि क्षत्रिय, चील आदि वैश्य और कौआ आदि शूद्र पक्षी हैं। इसी प्रकार वृक्षोंमें पीपल आदि ब्राह्मण, नीम आदि क्षत्रिय, इमली आदि वैश्य और बबूल (कीकर) आदि शूद्र वृक्ष हैं। परन्तु यहाँ ‘चातुर्वर्ण्यम्’ पदसे मनुष्योंको ही लेना चाहिये; क्योंकि वर्ण-विभागको मनुष्य ही समझ सकते हैं और उसके अनुसार कर्म कर सकते हैं। कर्म करनेका अधिकार मनुष्यको ही है।

चारों वर्णोंकी रचना मैंने ही की है—इससे भगवान्का यह भाव भी है कि एक तो ये मेरे ही अंश हैं; और दूसरे, मैं प्राणिमात्रका सुहृद् हूँ, इसलिये मैं सदा उनके हितको ही देखता हूँ। इसके विपरीत ये न तो देवताके अंश हैं और न देवता सबके सुहृद् ही हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने वर्णके अनुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंसे मेरा ही पूजन करे (गीता—अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)।

‘तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्’—यहाँ ‘अकर्तारम्’ पद कर्म करते हुए भी कर्तृत्वाभिमानका अभाव बतानेके लिये आया है। सृष्टिकी रचना, पालन, संहार आदि सम्पूर्ण कर्मोंको करते हुए भी भगवान् उन कर्मोंसे सर्वथा अतीत, निर्लिप्त ही रहते हैं।

सृष्टि-रचनामें भगवान् ही उपादान कारण हैं और वे ही निमित्त कारण हैं। मिट्टीसे बने पात्रमें मिट्टी उपादान कारण है और कुम्हार निमित्त कारण है। मिट्टीसे पात्र बननेमें मिट्टी व्यय (खर्च) हो जाती है और उसे बनानेमें कुम्हारकी शक्ति भी खर्च होती है; परन्तु सृष्टि-रचनामें भगवान्का कुछ भी व्यय नहीं होता। वे ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं। इसलिये उन्हें ‘अव्ययम्’ कहा गया है।

जीव भी भगवान्का अंश होनेसे अव्यय ही है। विचार

करें कि शरीरादि सब वस्तुएँ संसारकी हैं और संसारसे ही मिली हैं। अतः उन्हें संसारकी ही सेवामें लगा देनेसे अपना क्या व्यय हुआ? हम तो (स्वरूपतः) अव्यय ही रहे। इसलिये यदि साधक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, धन, सम्पत्ति आदि मिले हुए सांसारिक पदार्थोंको अपना और अपने लिये न माने, तो फिर उसे अपनी अव्ययताका अनुभव हो जायगा।

यहाँ ‘विद्धि’ पदसे भगवान्ने अपने कर्मोंकी दिव्यताको समझनेकी आज्ञा दी है। कर्म करते हुए भी कर्म, कर्म-सामग्री और कर्मफलसे अपना कोई सम्बन्ध न रहना ही कर्मोंकी दिव्यता है।

‘न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा’—विश्व-रचनादि समस्त कर्म करते हुए भी भगवान्का उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उनके कर्मोंमें विषमता, पक्षपात आदि दोष लेशमात्र भी नहीं हैं। उनकी कर्म-फलमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता या कामना नहीं है। इसलिये वे कर्म भगवान्को लिप्त नहीं करते।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु मात्र कर्मफल है। भगवान् कहते हैं कि जैसे मेरी कर्मफलमें स्पृहा नहीं है, ऐसे ही तुम्हारी भी कर्मफलमें स्पृहा नहीं होनी चाहिये। कर्मफलमें स्पृहा न रहनेसे सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी तुम कर्मोंसे बँधोगे नहीं।

पीछेके (तेरहवें) श्लोकमें भगवान्ने बताया कि सृष्टि-रचनादि समस्त कर्मोंका कर्ता होते हुए भी मैं अकर्ता हूँ अर्थात् मुझमें कर्तृत्वाभिमान नहीं है और इस श्लोकमें बताते हैं कि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है अर्थात् मुझमें भोक्तृत्वाभिमान भी नहीं है। अतः साधकको भी इन दोनोंसे रहित होना चाहिये। फलेच्छाका त्याग करके केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्तृत्व और भोक्तृत्व—दोनों ही नहीं रहते। कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। अतः इनके न रहनेसे मुक्ति स्वतःसिद्ध ही है।

‘इति मां योऽभिजानाति’—मनुष्यमें जब कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, तब उसकी दृष्टि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंपर रहती है। उत्पत्ति-विनाशशील (अनित्य) पदार्थोंपर दृष्टि रहनेसे वह नित्य भगवान्को तत्त्वसे नहीं जान सकता। पर कामनाओंके मिटनेसे जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब भगवान्की ओर स्वतः दृष्टि जाती है।

* सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मणकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रियकी, रजोगुणकी प्रधानता तथा तमोगुणकी गौणतासे वैश्यकी और तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्रकी रचना की गयी है।

भगवान्की ओर दृष्टि जानेपर मनुष्य जान जाता है कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं, इसलिये उनके द्वारा होनेवाली मात्र क्रियाएँ प्राणिमात्रके हितके लिये ही होती हैं। भगवान् तो जीवोंको कर्म-बन्धनसे रहित करनेके लिये ही उन्हें मनुष्य-शरीर देते हैं, पर इस बातको न समझनेके कारण जीव कर्मोंसे नये-नये सम्बन्ध मानकर और बन्धन उत्पन्न कर लेता है। इसलिये कर्तापन और फलेच्छा न होनेपर भी वे केवल कृपा करके जीवोंको कर्म-बन्धनसे रहित करके उनका उद्धार करनेके लिये ही सृष्टि-रचनाका कार्य करते हैं। भगवान्को इस तरह जान लेनेसे मनुष्य भगवान्की ओर खिंच जाता है—

उमा राम सुभाउ जेहि जाना।

ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

(मानस ५। ३४। २)

‘कर्मभिर्न स बध्यते’—भगवान्के कर्म तो दिव्य हैं ही, सन्त-महात्माओंके कर्म भी दिव्य हो जाते हैं। वास्तवमें सन्त-महात्मा ही नहीं, मनुष्यमात्र अपने कर्मोंको दिव्य बना सकता है। जब कर्मोंमें मलिनता (कामना, ममता, आसक्ति आदि) होती है, तब वे कर्म बाँधनेवाले हो जाते हैं। जब मलिनताके दूर हो जानेपर कर्म दिव्य हो जाते हैं, तब वे उसे नहीं बाँधते। इतना ही नहीं, वे कर्म उस कर्ताको और दूसरोंको भी (उसके अनुसार आचरण करनेसे) मुक्त करनेवाले हो जाते हैं।

अपने कर्मोंको दिव्य बनानेका सरल उपाय है—संसारसे मिली हुई वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर (संसारकी और संसारके लिये मानते हुए) संसारकी सेवामें लगा देना।

विचार करना चाहिये कि हमारे पास शरीर आदि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं, उन सबको हम साथ लाये नहीं

और जायँगे तब साथ ले जा सकते नहीं, उनके रहते हुए उनमें इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते नहीं, उन्हें इच्छानुसार रख सकते नहीं अर्थात् उनपर हमारा कोई आधिपत्य नहीं है। इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरोंसे साथ आये सूक्ष्म और कारण-शरीर भी परिवर्तनशील और प्रकृतिके कार्य हैं, इसलिये उनके साथ भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। वे वस्तुएँ अपने लिये भी नहीं हैं; क्योंकि उनके मिलनेपर भी ‘और मिले’ यह इच्छा रहती है। यदि वे वस्तुएँ अपने लिये होतीं तो और मिलनेकी इच्छा नहीं रहती। ऐसा होनेपर भी उन वस्तुओंको अपनी और अपने लिये मानना कितनी बड़ी भूल है? उन वस्तुओंमें जो अपनापन दीखता है, वह वास्तवमें केवल उनका सदुपयोग करनेके लिये है, उनपर अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं।

सेवा करनेके लिये तो सब अपने हैं, पर लेनेके लिये कोई अपना नहीं है। संसारकी तो बात ही क्या है, भगवान् भी लेनेके लिये अपने नहीं हैं अर्थात् भगवान्से भी कुछ नहीं लेना है, प्रत्युत अपने-आपको ही भगवान्के समर्पित करना है। कारण कि जो वस्तु हमें चाहिये और हमारे हितकी है, वह भगवान्ने हमें पहलेसे ही बिना माँगे दे रखी है; और ज्यादा दे रखी है, कम नहीं। हमारी जरूरतको जितना भगवान् समझते हैं, उतना हम समझ भी नहीं सकते; क्योंकि भगवान्की उदारता अपार है। उनके सामने हमारी समझ तो बहुत ही अल्प है। इसलिये उनसे माँगना किस बातका? जो कुछ हमें मिला है, उसीका हमें सदुपयोग करना है। वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर निष्कामभावपूर्वक दूसरोंके हितमें लगा देना ही वस्तुओंका सदुपयोग है। इससे कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और महान् आनन्दस्वरूप परमात्माका अनुभव हो जाता है।

परिशिष्ट भाव—जैसे सृष्टि-रचना आदि करनेपर भी भगवान्का अकर्तापन सुरक्षित (ज्यों-का-त्यों) रहता है, ऐसी ही जीवका भी स्वरूपसे अकर्तापन स्वतः सुरक्षित रहता है—‘शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते’ (गीता १३। ३१)। परन्तु वह मूढ़तापूर्वक अपनेमें कर्तापन स्वीकार कर लेता है—‘अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते’ (गीता ३। २७)।

कर्म, क्रिया और लीला—तीनों एक दीखते हुए भी वास्तवमें सर्वथा भिन्न हैं। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमानपूर्वक की जाय तथा अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेवाली हो, वह क्रिया ‘कर्म’ कहलाती है। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक न की जाय तथा जो फल देनेवाली भी न हो, वह ‘क्रिया’ होती है; जैसे—श्वासोंका आना-जाना, आँखका खुलना और बन्द होना, नाड़ियोंका चलना, हृदयका धड़कना आदि। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छासे रहित तो होती ही है, साथ-साथ दिव्य तथा दुनियामात्रका हित करनेवाली भी होती है, वह ‘लीला’ होती है। सांसारिक लोगोंके द्वारा ‘कर्म’ होता है, मुक्त पुरुषोंके

द्वारा 'क्रिया' होती है^१ और भगवान्‌के द्वारा 'लीला' होती है—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र २।१।३३) अर्थात् जैसे संसार न होते हुए भी दीखता है, ऐसे ही भगवान्‌का सृष्टि-रचना आदि कार्य केवल लीलामात्र है। तात्पर्य है कि भगवान्‌ कर्ता न होते हुए भी लीलासे कर्ता दीखते हैं।

'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' पदोंसे सिद्ध होता है कि गीता जन्म (उत्पत्ति)—से ही जाति मानती है। जो मनुष्य जिस वर्णमें जिस जातिके माता-पितासे पैदा हुआ है, उसीसे उसकी जाति मानी जाती है। 'जाति' शब्द ही 'जनी प्रादुर्भावे' धातुसे बनता है जो जन्मसे जातिको सिद्ध करता है। कर्मसे तो 'कृति' शब्द होता है, जो 'डुकृञ् करणे' धातुसे बनता है। हाँ, जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अपना उदाहरण देकर अब आगेके श्लोकमें भगवान्‌ मुमुक्षु पुरुषोंका उदाहरण देते हुए अर्जुनको निष्कामभावपूर्वक अपना कर्तव्य-कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वैः	= पूर्वकालके	कर्म	= कर्म	पूर्वतरम्	= सदासे
मुमुक्षुभिः	= मुमुक्षुओंने	कृतम्	= किये हैं,	कृतम्	= किये जानेवाले
अपि	= भी	तस्मात्	= इसलिये	कर्म	= कर्मोंको
एवम्	= इस प्रकार	त्वम्	= तू (भी)	एव	= ही (उन्हींकी तरह)
ज्ञात्वा	= जानकर	पूर्वैः	= पूर्वजोंके द्वारा	कुरु	= कर।

व्याख्या—[नवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यताका जो प्रसंग आरम्भ किया था, उसका यहाँ उपसंहार करते हैं।]

'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः'—अर्जुन मुमुक्षु थे अर्थात् अपना कल्याण चाहते थे। परन्तु युद्धरूपसे प्राप्त अपने कर्तव्य-कर्मको करनेमें उन्हें अपना कल्याण नहीं दीखता, प्रत्युत वे उसको घोर-कर्म समझकर उसका त्याग करना चाहते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका पहला श्लोक)। इसलिये भगवान्‌ अर्जुनको पूर्वकालके मुमुक्षु पुरुषोंका उदाहरण देते हैं कि उन्होंने भी अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करके कल्याणकी प्राप्ति की है, इसलिये तुम्हें भी उनकी तरह अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

तीसरे अध्यायके बीसवें श्लोकमें जनकादिका उदाहरण देकर तथा इसी (चौथे) अध्यायके पहले-दूसरे श्लोकोंमें विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदिका उदाहरण देकर भगवान्‌ने जो बात कही थी, वही बात इस श्लोकमें भी कह रहे हैं।

शास्त्रोंमें ऐसी प्रसिद्धि है कि मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि मुमुक्षाके बाद मनुष्य कर्मका अधिकारी नहीं होता; प्रत्युत ज्ञानका अधिकारी हो जाता है^२। परन्तु यहाँ भगवान्‌ कहते हैं कि मुमुक्षुओंने भी कर्मयोगका तत्त्व जानकर कर्म किये हैं। इसलिये मुमुक्षा जाग्रत् होनेपर भी अपने कर्तव्य-कर्मोंका त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये।

कर्मयोगका तत्त्व है—कर्म करते हुए योगमें स्थित रहना और योगमें स्थित रहते हुए कर्म करना। कर्म संसारके लिये और योग अपने लिये होता है। कर्मोंको करना और न करना—दोनों अवस्थाएँ हैं। अतः प्रवृत्ति (कर्म करना) और निवृत्ति (कर्म न करना)—दोनों ही प्रवृत्ति (कर्म करना) है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे ऊँचा उठ जाना योग है, जो पूर्ण निवृत्ति है। पूर्ण निवृत्ति कोई अवस्था नहीं है।

१-इसको गीताने 'चेष्टा' भी कहा है—'सदृशं चेष्टते' (३।३३)।

२-तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।१)

'तभीतक कर्म करने चाहिये, जबतक वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी (भगवान्‌की) कथाके श्रवण आदिमें श्रद्धा उत्पन्न न हो जाय।'

चौदहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म नहीं बाँधते। जो मनुष्य कर्म करनेकी इस विद्या-(कर्मयोग-) को जानकर फलेच्छाका त्याग करके कर्म करता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बाँधता; कारण कि फलेच्छासे ही मनुष्य बाँधता है—‘फले सक्तो निबध्यते’ (गीता ५।१२)। अगर मनुष्य अपने सुखभोगके लिये अथवा धन, मान, बड़ाई, स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये कर्म करता है तो वे कर्म उसे बाँध देते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ श्लोक)। परन्तु यदि उसका लक्ष्य उत्पत्ति-विनाशशील संसार नहीं है, प्रत्युत वह संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये निःस्वार्थ सेवा-भावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है, तो वे कर्म उसे बाँधते नहीं (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। कारण कि दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी तरफ

हो जाता है, जिससे कर्मोंका सम्बन्ध (राग) मिट जाता है और फलेच्छा न रहनेसे नया सम्बन्ध पैदा नहीं होता।

‘कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वं: पूर्वतरं कृतम्’—इन पदोंसे भगवान् अर्जुनको आज्ञा दे रहे हैं कि तू मुमुक्षु है, इसलिये जैसे पहले अन्य मुमुक्षुओंने लोकहितार्थ कर्म किये हैं, ऐसे ही तू भी संसारके हितके लिये कर्म कर।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि कर्मकी सब सामग्री अपनेसे भिन्न तथा संसारसे अभिन्न है। वह संसारकी है और संसारकी सेवाके लिये ही मिली है। उसे अपनी मानकर अपने लिये कर्म करनेसे कर्मोंका सम्बन्ध अपने साथ हो जाता है। जब सम्पूर्ण कर्म केवल दूसरोंके हितके लिये किये जाते हैं, तब कर्मोंका सम्बन्ध हमारे साथ नहीं रहता। कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ‘योग’ अर्थात् परमात्माके साथ हमारे नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव हो जाता है, जो कि पहलेसे ही है।

परिशिष्ट भाव—तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें भगवान्ने बताया कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छासे रहित होकर सृष्टि-रचना आदि कर्म करनेके कारण वे कर्म मुझे नहीं बाँधते। यहाँ भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षुओंने भी इसी तरह कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छाका त्याग करके कर्म किये हैं। कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा होनेपर ही कर्म बन्धनकारक होते हैं। इसलिये तू भी उसी प्रकारसे कर्म कर।

ज्ञानयोगमें पहले कर्तृत्वाभिमानका त्याग किया जाता है, फिर फलेच्छाका त्याग स्वतः होता है। कर्मयोगमें पहले फलेच्छाका त्याग किया जाता है, फिर कर्तृत्वाभिमानका त्याग सुगमतासे हो जाता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें ‘एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म’ पदोंसे कर्मोंको जाननेकी बात कही गयी थी। अब भगवान् आगेके श्लोकसे कर्मोंको ‘तत्त्व’ से जाननेके लिये प्रकरण आरम्भ करते हैं।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म	= कर्म	अपि	= भी	कहूँगा,
किम्	= क्या है (और)	मोहिताः	= मोहित हो जाते हैं।	यत्
अकर्म	= अकर्म		(अतः)	= जिसको
किम्	= क्या है—	तत्	= वह	ज्ञात्वा
इति	= इस प्रकार	कर्म	= कर्म-तत्त्व (मैं)	= जानकर (तू)
अत्र	= इस विषयमें	ते	= तुझे	अशुभात्
कवयः	= विद्वान्	प्रवक्ष्यामि	= भलीभाँति	= अशुभ (संसार- बन्धन)-से
				मोक्ष्यसे
				= मुक्त हो जायगा।

व्याख्या—‘किं कर्म’—साधारणतः मनुष्य-शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको ही कर्म मान लेते हैं तथा शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाएँ बंद होनेको अकर्म मान लेते हैं। परन्तु भगवान्ने शरीर, वाणी और मनके द्वारा होनेवाली मात्र क्रियाओंको कर्म माना है—‘शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः’ (गीता १८।१५)।

भावके अनुसार ही कर्मकी संज्ञा होती है। भाव बदलनेपर कर्मकी संज्ञा भी बदल जाती है। जैसे, कर्म स्वरूपसे सात्त्विक दीखता हुआ भी यदि कर्ताका भाव राजस या तामस होता है, तो वह कर्म भी राजस या तामस हो जाता है। जैसे, कोई देवीकी उपासनारूप कर्म कर रहा है, जो स्वरूपसे सात्त्विक है। परन्तु यदि कर्ता उसे किसी

कामनाकी सिद्धिके लिये करता है, तो वह कर्म राजस हो जाता है और किसीका नाश करनेके लिये करता है, तो वही कर्म तामस हो जाता है। इसी प्रकार यदि कर्तामें फलेच्छा, ममता और आसक्ति नहीं है, तो उसके द्वारा किये गये कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं अर्थात् फलमें बाँधनेवाले नहीं होते। तात्पर्य यह है कि केवल बाहरी क्रिया करने अथवा न करनेसे कर्मके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। इस विषयमें शास्त्रोंको जाननेवाले बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं अर्थात् कर्मके तत्त्वका यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते। जिस क्रियाको वे कर्म मानते हैं वह कर्म भी हो सकता है, अकर्म भी हो सकता है और विकर्म भी हो सकता है। कारण कि कर्ताके भावके अनुसार कर्मका स्वरूप बदल जाता है। इसलिये भगवान् मानो यह कहते हैं कि वास्तविक कर्म क्या है? वह क्यों बाँधता है? कैसे बाँधता है? इससे किस तरह मुक्त हो सकते हैं?—इन सबका मैं विवेचन करूँगा, जिसको जानकर उस रीतिसे कर्म करनेपर वे बाँधनेवाले न हो सकेंगे।

यदि मनुष्यमें ममता, आसक्ति और फलेच्छा है, तो कर्म न करते हुए भी वास्तवमें कर्म ही हो रहा है अर्थात् कर्मोंसे लिप्तता है। परन्तु यदि ममता, आसक्ति और फलेच्छा नहीं है, तो कर्म करते हुए भी कर्म नहीं हो रहा है अर्थात् कर्मोंसे निर्लिप्तता है। तात्पर्य यह है कि यदि कर्ता निर्लिप्त है तो कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही अकर्म हैं और यदि कर्ता लिप्त है तो कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही कर्म हैं और बाँधनेवाले हैं।

'किमकर्मैति'—भगवान्ने कर्मके दो भेद बताये हैं—कर्म और अकर्म। कर्मसे जीव बाँधता है और अकर्मसे (दूसरोंके लिये कर्म करनेसे) मुक्त हो जाता है।

कर्मोंका त्याग करना अकर्म नहीं है। भगवान्ने मोहपूर्वक किये गये कर्मोंके त्यागको 'तामस' बताया है (गीता—अठारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। शारीरिक कष्टके भयसे किये गये कर्मोंके त्यागको 'राजस' बताया गया है (गीता—अठारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। तामस और राजस त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग होनेपर भी कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। कर्मोंमें फलेच्छा और आसक्तिका त्याग 'सात्त्विक' है (गीता—अठारहवें अध्यायका नवाँ श्लोक)। सात्त्विक त्यागमें स्वरूपसे कर्म करना भी वास्तवमें अकर्म है; क्योंकि सात्त्विक त्यागमें कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः कर्म करते हुए

भी उससे निर्लिप्त रहना वास्तवमें अकर्म है।

शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् भी अकर्म क्या है—इस विषयमें मोहित हो जाते हैं। अतः कर्म करने अथवा न करने—दोनों ही अवस्थाओंमें जिससे जीव बाँधे नहीं, उस तत्त्वको समझनेसे ही कर्म क्या है और अकर्म क्या है—यह बात समझमें आयेगी। अर्जुन युद्धरूप कर्म न करनेको कल्याणकारक समझते हैं। इसलिये भगवान् मानो यह कहते हैं कि युद्धरूप कर्मका त्याग करनेमात्रसे तेरी अकर्म-अवस्था (बन्धनसे मुक्ति) नहीं होगी (गीता—तीसरे अध्यायका चौथा श्लोक), प्रत्युत युद्ध करते हुए भी तू अकर्म-अवस्थाको प्राप्त कर सकता है (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक); अतः अकर्म क्या है—इस तत्त्वको तू समझ।

निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना अथवा कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना—यही वास्तवमें अकर्म-अवस्था है।

'कवयोऽप्यत्र मोहिताः'—साधारण मनुष्योंमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि वे कर्म और अकर्मका तात्त्विक निर्णय कर सकें। शास्त्रोंके ज्ञाता बड़े-बड़े विद्वान् भी इस विषयमें भूल कर जाते हैं। कर्म और अकर्मका तत्त्व जाननेमें उनकी बुद्धि भी चकरा जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि इनका तत्त्व या तो कर्मयोगसे सिद्ध हुए अनुभवी तत्त्वज्ञ महापुरुष जानते हैं अथवा भगवान् जानते हैं।

'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि'—जीव कर्मोंसे बाँधा है तो कर्मोंसे ही मुक्त होगा। यहाँ भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं वह कर्म-तत्त्व भलीभाँति कहूँगा, जिससे कर्म करते हुए भी वे बन्धनकारक न हों। तात्पर्य यह है कि कर्म करनेकी वह विद्या बताऊँगा, जिससे तू कर्म करते हुए भी जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

कर्म करनेके दो मार्ग हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्गको 'कर्म करना' कहते हैं और निवृत्तिमार्गको 'कर्म न करना' कहते हैं। ये दोनों ही मार्ग बाँधनेवाले नहीं हैं। बाँधनेवाली तो कामना, ममता, आसक्ति है, चाहे यह प्रवृत्तिमार्गमें हो, चाहे निवृत्तिमार्गमें हो। यदि कामना, ममता, आसक्ति न हो तो मनुष्य प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग—दोनोंमें स्वतः मुक्त है। इस बातको समझना ही कर्म-तत्त्वको समझना है।

दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकमें भगवान्ने 'योगः कर्मसु कौशलम्' 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा कहकर कर्म-तत्त्व बताया है। तात्पर्य है कि कर्म-बन्धनसे

छूटनेका वास्तविक उपाय 'योग' अर्थात् समता ही है। परन्तु अर्जुन इस तत्त्वको पकड़ नहीं सके, इसलिये भगवान् इस तत्त्वको पुनः समझानेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

विशेष बात

कर्मयोग कर्म नहीं है, प्रत्युत सेवा है। सेवामें त्यागकी मुख्यता होती है। सेवा और त्याग—ये दोनों ही कर्म नहीं हैं। इन दोनोंमें विवेककी ही प्रधानता है।

हमारे पास शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। मिली हुई वस्तुको अपनी माननेका हमें अधिकार नहीं है। संसारसे मिली वस्तुको संसारकी ही सेवामें लगानेका हमें अधिकार है। जो वस्तु वास्तवमें अपनी है, उस—(स्वरूप या परमात्मा—) का त्याग कभी हो ही नहीं सकता और जो वस्तु अपनी नहीं है, उस—(शरीर या संसार—) का त्याग स्वतःसिद्ध है। अतः त्याग उसीका होता है जो अपना नहीं है, पर जिसे भूलसे अपना मान लिया है अर्थात् अपनेपनकी मान्यताका ही त्याग होता है। इस प्रकार जो वस्तु अपनी है ही नहीं, उसे अपना न मानना त्याग कैसे? यह तो विवेक है।

कर्म—सामग्री (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि) अपनी और अपने लिये नहीं हैं, प्रत्युत दूसरोंकी और दूसरोंके लिये ही हैं। इसका सम्बन्ध संसारके साथ है। स्वयंके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि स्वयं नित्य—निरन्तर निर्विकाररूपसे एकरस रहता है, पर कर्म—सामग्री पहले अपने पास नहीं थी, बादमें भी अपने पास नहीं रहेगी और अब भी निरन्तर बिछुड़ रही है। इसलिये इसके द्वारा जो भी कर्म किया जाय, वह दूसरोंके लिये ही होता है, अपने लिये नहीं। इसमें एक मार्मिक बात है कि कर्म—सामग्रीके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता; जैसे—कितना ही बड़ा लेखक क्यों न हो, स्याही, कलम और कागजके बिना वह कुछ भी नहीं लिख सकता। अतः जब कर्म—सामग्रीके बिना कुछ किया नहीं जा सकता, तब यह विधान मानना ही पड़ेगा कि अपने लिये कुछ करना नहीं है। कारण कि कर्म—सामग्रीका सम्बन्ध संसारके साथ है, अपने साथ नहीं। इसलिये कर्म—सामग्री और कर्म सदा दूसरोंके हितके लिये ही होते हैं, जिसे सेवा कहते हैं। दूसरोंकी ही वस्तु दूसरोंको मिल गयी तो यह सेवा कैसे? यह तो विवेक है।

इस प्रकार त्याग और सेवा—ये दोनों ही कर्मसाध्य नहीं हैं, प्रत्युत विवेकसाध्य हैं। मिली हुई वस्तु अपनी नहीं है, दूसरोंकी और दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये ही है—यह विवेक है। इसलिये मूलतः कर्मयोग कर्म नहीं है, प्रत्युत विवेक है।

विवेक किसी कर्मका फल नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रको अनादिकालसे स्वतः प्राप्त है। यदि विवेक किसी शुभ कर्मका फल होता तो विवेकके बिना उस शुभ कर्मको कौन करता? क्योंकि विवेकके द्वारा ही मनुष्य शुभ और अशुभ कर्मके भेदको जानता है तथा अशुभ कर्मका त्याग करके शुभ कर्मका आचरण करता है। अतः विवेक शुभ कर्मोंका कारण है, कार्य नहीं। यह विवेक स्वतःसिद्ध है, इसलिये कर्मयोग भी स्वतःसिद्ध है अर्थात् कर्मयोगमें परिश्रम नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानयोगमें अपना असंग स्वरूप स्वतःसिद्ध है और भक्ति—योगमें भगवान्के साथ अपना सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है।

'यज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'—जीव स्वयं शुभ है और परिवर्तनशील संसार अशुभ है। जीव स्वयं परमात्माका नित्य अंश होते हुए भी परमात्मासे विमुख होकर अनित्य संसारमें फँस गया है। भगवान् कहते हैं कि मैं उस कर्म—तत्त्वका वर्णन करूँगा, जिसे जानकर कर्म करनेसे तू अशुभसे अर्थात् जन्म—मरणरूप संसार—बन्धनसे मुक्त हो जायगा।

[इस श्लोकमें कर्मोंको जाननेका जो प्रकरण आरम्भ हुआ है, उसका उपसंहार बत्तीसवें श्लोकमें 'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे' पदोंसे किया गया है।]

मार्मिक बात

कर्मयोगका तात्पर्य है—'कर्म' संसारके लिये और 'योग' अपने लिये। कर्मके दो अर्थ होते हैं—करना और न करना। कर्म करना और न करना—ये दोनों प्राकृत अवस्थाएँ हैं। इन दोनों ही अवस्थाओंमें अहंता रहती है। कर्म करनेमें 'कार्य'—रूपसे अहंता रहती है, और कर्म न करनेमें 'कारण' रूपसे। जबतक अहंता है तबतक संसारसे सम्बन्ध है और जबतक संसारसे सम्बन्ध है, तबतक अहंता है। परन्तु 'योग' दोनों अवस्थाओंसे अतीत है। उस योगका अनुभव करनेके लिये अहंतासे रहित होना आवश्यक है। अहंतासे रहित होनेका उपाय है—कर्म करते हुए अथवा न करते हुए योगमें स्थित रहना और योगमें स्थित रहते हुए

कर्म करना अथवा न करना। तात्पर्य है कि कर्म करने अथवा न करने—दोनों अवस्थाओंमें निर्लिप्तता रहे—
'योगस्थः कुरु कर्माणि' (गीता २। ४८)।

कर्म करनेसे संसारमें और कर्म न करनेसे परमात्मामें प्रवृत्ति होती है—ऐसा मानते हुए संसारसे निवृत्त होकर एकान्तमें ध्यान और समाधि लगाना भी कर्म करना ही है। एकान्तमें ध्यान और समाधि लगानेसे तत्त्वका साक्षात्कार होगा—इस प्रकार भविष्यमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करनेका भाव भी कर्मका सूक्ष्म रूप है। कारण कि करनेके आधारपर ही भविष्यमें तत्त्वप्राप्तिकी आशा होती है। परन्तु परमात्मतत्त्व करने और न करने—दोनोंसे अतीत है।

भगवान् कहते हैं कि मैं वह कर्म-तत्त्व कहूँगा जिसे जाननेसे तत्काल परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। इसके लिये भविष्यकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, शरीर, इन्द्रियाँ, मन,

बुद्धि, प्राण आदिमें समानरूपसे परिपूर्ण है। मनुष्य अपनेको जहाँ मानता है, परमात्मा वहीं हैं। कर्म करते समय अथवा न करते समय—दोनों अवस्थाओंमें परमात्मतत्त्वका हमारे साथ सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों रहता है। केवल प्रकृतिजन्य क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध माननेके कारण ही उसकी अनुभूति नहीं हो रही है।

अहंतापूर्वक किया हुआ साधन और साधनका अभिमान जबतक रहता है, तबतक अहंता मिटती नहीं, प्रत्युत दृढ़ होती है, चाहे वह अहंता स्थूलरूपसे (कर्म करनेके साथ) रहे अथवा सूक्ष्मरूपसे (कर्म न करनेके साथ) रहे।

'मैं करता हूँ'—इसमें जैसी अहंता है, ऐसी ही अहंता 'मैं नहीं करता हूँ'—इसमें भी है। अपने लिये कुछ न करनेसे अर्थात् कर्ममात्र संसारके हितके लिये करनेसे अहंता संसारमें विलीन हो जाती है।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मोंके तत्त्वको जाननेकी प्रेरणा करते हैं।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मणः	= कर्मोंका (तत्त्व)	बोद्धव्यम्	= जानना चाहिये	कर्मणः	= कर्मोंकी
अपि	= भी	च	= तथा	गतिः	= गति
बोद्धव्यम्	= जानना चाहिये	विकर्मणः	= विकर्मका (तत्त्व भी)	गहना	= गहन है अर्थात्
च	= और	बोद्धव्यम्	= जानना चाहिये;		समझनेमें बड़ी
अकर्मणः	= अकर्मका (तत्त्व भी)	हि	= क्योंकि		कठिन है।

व्याख्या—'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्'—कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना ही कर्मके तत्त्वको जानना है, जिसका वर्णन आगे अठारहवें श्लोकमें 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' पदोंसे किया गया है।

कर्म स्वरूपसे एक दीखनेपर भी अन्तःकरणके भावके अनुसार उसके तीन भेद हो जाते हैं—कर्म, अकर्म और विकर्म। सकामभावसे की गयी शास्त्रविहित क्रिया 'कर्म' बन जाती है। फलेच्छा, ममता और आसक्तिसे रहित होकर केवल दूसरोंके हितके लिये किया गया कर्म 'अकर्म' बन जाता है। विहित कर्म भी यदि दूसरेका अहित करने अथवा उसे दुःख पहुँचानेके भावसे किया गया हो तो वह भी 'विकर्म' बन जाता है। निषिद्ध कर्म तो 'विकर्म' है ही।

'अकर्मणश्च बोद्धव्यम्'—निर्लिप्त रहते हुए कर्म

करना ही अकर्मके तत्त्वको जानना है, जिसका वर्णन आगे अठारहवें श्लोकमें 'अकर्मणि च कर्म यः' पदोंसे किया गया है।

'बोद्धव्यं च विकर्मणः'—कामनासे कर्म होते हैं। जब कामना अधिक बढ़ जाती है, तब विकर्म (पापकर्म) होते हैं।

दूसरे अध्यायके अड़तीसवें श्लोकमें भगवान् ने बताया है कि अगर युद्ध-जैसा हिंसायुक्त घोर कर्म भी शास्त्रकी आज्ञासे और समतापूर्वक (जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर) किया जाय, तो उससे पाप नहीं लगता। तात्पर्य यह है कि समतापूर्वक कर्म करनेसे दीखनेमें विकर्म होता हुआ भी वह 'अकर्म' हो जाता है।

शास्त्रनिषिद्ध कर्मका नाम 'विकर्म' है। विकर्मके होनेमें

कामना ही हेतु है (गीता—तीसरे अध्यायका छतीसवाँ-सैंतीसवाँ श्लोक)*। अतः विकर्मका तत्त्व है—कामना; और विकर्मके तत्त्वको जानना है—विकर्मका स्वरूपसे त्याग करना तथा उसके कारण कामनाका त्याग करना।

‘गहना कर्मणो गतिः’—कौन-सा कर्म मुक्त करने-वाला और कौन-सा कर्म बाँधनेवाला है—इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। कर्म क्या है, अकर्म क्या है और विकर्म क्या है—इसका यथार्थ तत्त्व जाननेमें बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ विद्वान् भी अपने-आपको असमर्थ पाते हैं। अर्जुन भी इस तत्त्वको न जाननेके कारण अपने युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको घोर कर्म मान रहे हैं। अतः कर्मकी गति (ज्ञान या तत्त्व) बहुत गहन है।

शंका—इस (सत्रहवें) श्लोकमें भगवान्ने **‘बोद्धव्यं च विकर्मणः’** पदोंसे यह कहा कि विकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये। परन्तु उन्नीसवें-से-तेईसवें श्लोकतकके प्रकरणमें भगवान्ने ‘विकर्म’ के विषयमें कुछ कहा ही नहीं! फिर केवल इस श्लोकमें ही विकर्मकी बात क्यों कही?

समाधान—उन्नीसवें श्लोकसे लेकर तेईसवें श्लोकतकके प्रकरणमें भगवान्ने मुख्यरूपसे ‘कर्ममें अकर्म’ की बात कही है, जिससे सब कर्म अकर्म हो जायँ अर्थात् कर्म करते हुए भी बन्धन न हो। विकर्म कर्मके बहुत पास पड़ता

है; क्योंकि कर्मोंमें कामना ही विकर्मका मुख्य हेतु है। अतः कामनाका त्याग करनेके लिये तथा विकर्मको निकृष्ट बतानेके लिये भगवान्ने विकर्मका नाम लिया है।

जिस कामनासे ‘कर्म’ होते हैं, उसी कामनाके अधिक बढ़नेपर ‘विकर्म’ होने लगते हैं। परन्तु कामना नष्ट होनेपर सब कर्म ‘अकर्म’ हो जाते हैं। इस प्रकरणका खास तात्पर्य ‘अकर्म’को जाननेमें ही है, और ‘अकर्म’ होता है कामनाका नाश होनेपर। कामनाका नाश होनेपर विकर्म होता ही नहीं; अतः विकर्मके विवेचनकी जरूरत ही नहीं। इसलिये इस प्रकरणमें विकर्मकी बात नहीं आयी है। दूसरी बात पापजनक और नरकोंकी प्राप्ति करानेवाला होनेके कारण विकर्म सर्वथा त्याज्य है। इसलिये भी इसका विस्तार नहीं किया गया है। हाँ, विकर्मके मूल कारण ‘कामना’का त्याग करनेका भाव इस प्रकरणमें मुख्यरूपसे आया है; जैसे—**‘कामसंकल्पवर्जिताः’** (४। १९), **‘त्यक्त्वा कर्म-फलासंगम्’** (४। २०), **‘निराशीः’** (४। २१), **‘समः सिद्धावसिद्धौ च’** (४। २२), **‘गतसंगस्य’**, **‘यज्ञायाचरतः’** (४। २३)।

इस प्रकार विकर्मके मूल ‘कामना’के त्यागका वर्णन करनेके लिये ही इस श्लोकमें विकर्मको जाननेकी बात कही गयी है।

परिशिष्ट भाव—हमारे लिये और दूसरोंके लिये, अभी और परिणामोंमें किस कर्मका क्या फल होता है, यह समझना बड़ा कठिन है। किसी कर्मको करनेमें मनुष्य अपना हित समझता है, पर हो जाता है अहित! वह लाभके लिये करता है पर हो जाता है नुकसान! वह सुखके लिये करता है, पर मिलता है दुःख! कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा (सुखासक्ति) रहनेके कारण मनुष्य कर्मोंकी गतिको नहीं समझ सकता।

सम्बन्ध—अब भगवान् कर्मोंके तत्त्वको जाननेवाले मनुष्यकी प्रशंसा करते हैं।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

यः	= जो मनुष्य	अकर्मणि	= अकर्ममें	सः	= वह
कर्मणि	= कर्ममें	कर्म	= कर्म (देखता है),	युक्तः	= योगी है (और)
अकर्म	= अकर्म	सः	= वह	कृत्स्नकर्मकृत्	= सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला
पश्येत्	= देखता है	मनुष्येषु	= मनुष्योंमें		(कृतकृत्य) है।
च	= और	बुद्धिमान्	= बुद्धिमान् है,		
यः	= जो				

* सोलहवें अध्यायमें जहाँ आसुरी-सम्पत्तिका वर्णन हुआ है, वहाँ आठवें श्लोकसे तेईसवें श्लोकतक ‘काम’ शब्द कुल नौ बार आया है। इससे सिद्ध होता है कि ‘काम’ अर्थात् कामना ही सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्ति- (विकर्म-) का कारण है।

व्याख्या—‘कर्मण्यकर्म यः पश्येत्’—कर्ममें अकर्म देखनेका तात्पर्य है—कर्म करते हुए अथवा न करते हुए उससे निर्लिप्त रहना अर्थात् अपने लिये कोई भी प्रवृत्ति या निवृत्ति न करना। अमुक कर्म मैं करता हूँ, इस कर्मका अमुक फल मुझे मिले—ऐसा भाव रखकर कर्म करनेसे ही मनुष्य कर्मोंसे बँधता है। प्रत्येक कर्मका आरम्भ और अन्त होता है, इसलिये उसका फल भी आरम्भ और अन्त होनेवाला होता है। परन्तु जीव स्वयं नित्य-निरन्तर रहता है। इस प्रकार यद्यपि जीव स्वयं परिवर्तनशील कर्म और उसके फलसे सर्वथा सम्बन्धरहित है, फिर भी वह फलकी इच्छाके कारण उनसे बँध जाता है। इसीलिये चौदहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि मेरेको कर्म नहीं बाँधते; क्योंकि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है। फलकी स्पृहा या इच्छा ही बाँधनेवाली है—‘फले सक्तो निबध्यते’ (गीता ५। १२)।

फलकी इच्छा न रखनेसे नया राग उत्पन्न नहीं होता और दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे पुराना राग नष्ट हो जाता है। इस प्रकार रागरूप बन्धन न रहनेसे साधक सर्वथा वीतराग हो जाता है। वीतराग होनेसे सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

जीवका जन्म कर्मोंके अनुबन्धसे होता है। जैसे, जिस परिवारमें जन्म लिया है, उस परिवारके लोगोंसे ऋणानुबन्ध है अर्थात् किसीका ऋण चुकाना है और किसीसे ऋण वसूल करना है। कारण कि अनेक जन्मोंमें अनेक लोगोंसे लिया है और अनेक लोगोंको दिया है। यह लेन-देनका व्यवहार अनेक जन्मोंसे चला आ रहा है। इसको बंद किये बिना जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिल सकता। इसको बंद करनेका उपाय है—आगेसे लेना बंद कर दें अर्थात् अपने अधिकारका त्याग कर दें और हमारेपर जिनका अधिकार है, उनकी सेवा करनी आरम्भ कर दें। इस प्रकार नया ऋण लें नहीं और पुराना ऋण (दूसरोंके लिये कर्म करके) चुका दें, तो ऋणानुबन्ध (लेन-देनका व्यवहार) समाप्त हो जायगा अर्थात् जन्म-मरण बंद हो जायगा (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)। जैसे, कोई दूकानदार अपनी दूकान उठाना चाहता है, तो वह दो काम करेगा—पहला, जिसको देना है, उसको दे देगा और दूसरा, जिससे लेना है, वह ले लेगा अथवा छोड़ देगा। ऐसा करनेसे उसकी दूकान उठ जायगी। अगर वह यह विचार रखेगा कि जो लेना है, वह सब-का-सब ले लूँ, तो दूकान उठेगी नहीं।

कारण कि जबतक वह लेनेकी इच्छासे वस्तुएँ देता रहेगा, तबतक दूकान चलती ही रहेगी, उठेगी नहीं।

अपने लिये कुछ भी न करने और न चाहनेसे असंगता स्वतः प्राप्त हो जाती है। कारण कि करण (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण) और उपकरण (कर्म करनेमें उपयोगी सामग्री) संसारके हैं और संसारकी सेवामें लगानेके लिये ही मिले हैं, अपने लिये नहीं। इसलिये सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म (सेवा, भजन, जप, ध्यान, समाधि भी) केवल संसारके हितके लिये ही करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी ओर चला जाता है और साधक स्वयं असंग, निर्लिप्त रह जाता है। यही कर्ममें अकर्म देखना है।

जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक कर्म करना अथवा न करना—दोनों ही ‘कर्म’ हैं। इसलिये कर्म करने अथवा न करने—दोनों ही अवस्थाओंमें कर्मयोगीको निर्लिप्त रहना चाहिये। कर्म करनेमें निर्लिप्त रहनेका तात्पर्य है—कर्म करनेसे हमें अच्छा फल मिलेगा, हमें लाभ होगा, हमारी सिद्धि होगी, लोग हमें अच्छा मानेंगे, इस लोकमें और परलोकमें भोग मिलेंगे—इस प्रकारकी किसी भी इच्छाका न होना। ऐसे ही कर्म न करनेमें निर्लिप्त रहनेका तात्पर्य है—कर्मोंका त्याग करनेसे हमें मान, आदर, भोग, शरीरका आराम आदि मिलेंगे—इस प्रकारकी किंचिन्मात्र भी इच्छाका न होना।

दुःख समझकर एवं शारीरिक क्लेशके भयसे कर्म न करना राजस त्याग है और मोह, आलस्य, प्रमादके कारण कर्म न करना तामस त्याग है। ये दोनों ही त्याग सर्वथा त्याज्य हैं। इसके सिवाय कर्म न करना यदि अपनी विलक्षण स्थितिके लिये है, समाधिका सुख भोगनेके लिये है, जीवन्मुक्तिका आनन्द लेनेके लिये है तो इस त्यागसे भी प्रकृतिका सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता। कारण कि जबतक कर्म न करनेसे सम्बन्ध है, तबतक प्रकृतिसे सम्बन्ध बना रहता है। प्रकृतिसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर कर्मयोगी कर्म करने और न करने—इन दोनों अवस्थाओंमें ज्यों-का-त्यों निर्लिप्त रहता है।

‘अकर्मणि च कर्म यः’—अकर्ममें कर्म देखनेका तात्पर्य है—निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना अथवा न करना। भाव है कि कर्म करते समय अथवा न करते समय भी नित्य-निरन्तर निर्लिप्त रहे।

संसारमें कोई कार्य करनेके लिये प्रवृत्त होता है तो उसके सामने प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—

दोनों आती हैं। किसी कार्यमें प्रवृत्ति होती है और किसी कार्यसे निवृत्ति होती है। परन्तु कर्मयोगीकी प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों निर्लिप्ततापूर्वक और केवल संसारके हितके लिये होती हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे ही उसका कोई प्रयोजन नहीं होता—‘**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**’ (गीता ३। १८)। यदि प्रयोजन होता है तो वह कर्मयोगी नहीं है, प्रत्युत कर्मी है।

साधक जबतक प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध मानता है, तबतक वह कर्म करनेसे अपनी सांसारिक उन्नति मानता है और कर्म न करनेसे अपनी पारमार्थिक उन्नति मानता है। परन्तु वास्तवमें प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ही प्रवृत्ति हैं; क्योंकि दोनोंमें ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है। जैसे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि स्थूल-शरीरकी क्रियाएँ हैं, ऐसे ही एकान्तमें बैठे रहना, चिन्तन करना, ध्यान लगाना सूक्ष्म-शरीरकी क्रियाएँ और समाधि लगाना कारण-शरीरकी क्रियाएँ हैं। इसलिये निर्लिप्त रहते हुए ही लोकसंग्रहार्थ कर्तव्य-कर्म करना है। यही अकर्ममें कर्म है। इसीको दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें ‘**योगस्थः कुरु कर्माणि**’ (योग अर्थात् समतामें स्थित होकर कर्म कर) पदोंसे कहा गया है।

सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों ‘कर्म’ हैं। प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए ही प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति करना—इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंमें सर्वथा निर्लिप्त रहना ‘योग’ है। इसीको कर्मयोग कहते हैं।

शंका—कर्म करते हुए अथवा न करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए कर्म करना अथवा न करना— इन दोनोंमें ‘अकर्म’ अर्थात् एक निर्लिप्तता ही मुख्य हुई; फिर भगवान्ने कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—ये दो बातें क्यों कही हैं?

समाधान—कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—इन दोनोंमें एक निर्लिप्तता सार होते हुए भी पहले-(कर्ममें अकर्म-)-में कर्म करते हुए अथवा न करते हुए—दोनों अवस्थाओंमें रहनेवाली निर्लिप्तताकी मुख्यता है और दूसरे-(अकर्ममें कर्म-)-में निर्लिप्त रहते हुए कर्म करने अथवा न करनेकी मुख्यता है। तात्पर्य है कि निर्लिप्तता अपने लिये और कर्म संसारके लिये है; क्योंकि निर्लिप्तताका सम्बन्ध ‘स्व’-(स्वरूप-)-के साथ और कर्म करने अथवा न करनेका सम्बन्ध ‘पर’-(शरीर, संसार-)-के साथ है।

इसलिये निर्लिप्तता स्वधर्म और कर्म करना अथवा न करना परधर्म है। इन दोनोंका विभाग सर्वथा अलग-अलग बतानेके लिये ही भगवान्ने उपर्युक्त दो बातें कही हैं।

कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—ये दोनों बातें कर्मयोगकी हैं, जिनका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिसे तो सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय अर्थात् करने अथवा न करनेसे अपना कोई प्रयोजन न रहे और लोकसंग्रहके लिये कर्मोंको करना अथवा न करना हो। कारण कि कर्म करते हुए निर्लिप्त रहना और निर्लिप्त रहते हुए भी दूसरोंके हितके लिये कर्म करना—ये दोनों ही गीताके सिद्धान्त हैं।

प्रवृत्ति (करना) और निवृत्ति (न करना)—दोनों प्रकृतिके राज्यमें ही हैं। प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील है, इसलिये प्रवृत्तिका भी आरम्भ और अन्त होता है तथा निवृत्तिका भी आरम्भ और अन्त होता है। परन्तु इनसे सर्वथा अतीत परमनिवृत्ततत्त्व—अपने स्वरूपका आदि और अन्त नहीं होता। वह प्रवृत्ति और निवृत्तिके आरम्भमें भी रहता है और उनके अन्तमें भी रहता है तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति-कालमें भी ज्यों-का-त्यों रहता है। वह प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंका प्रकाशक और आधार है। इसलिये उसमें न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति है—इस तत्त्वको समझनेके लिये और उसमें स्थित होकर लोक-संग्रहार्थ- (यज्ञार्थ-) कर्म करनेके लिये यहाँ कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म—ये दो बातें कही गयी हैं।

‘**स बुद्धिमान्मनुष्येषु**’—जो पुरुष कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् नित्य-निरन्तर निर्लिप्त रहता है, वही वास्तवमें कर्म-तत्त्वको जाननेवाला है। जबतक वह निर्लिप्त नहीं हुआ है अर्थात् कर्म और पदार्थको अपना और अपने लिये मानता है, तबतक उसने कर्म-तत्त्वको समझा ही नहीं है।

परमात्माको जाननेके लिये स्वयंको परमात्मासे अभिन्नताका अनुभव करना होता है और संसारको जाननेके लिये स्वयंको संसार-(क्रिया और पदार्थ-) से सर्वथा भिन्नताका अनुभव करना होता है। कारण कि वास्तवमें हम (स्वरूपसे) परमात्मासे अभिन्न और संसारसे भिन्न हैं। इसलिये कर्मोंसे अलग होकर अर्थात् निर्लिप्त होकर ही कर्म-तत्त्वको जान सकते हैं। कर्म आदि-अन्तवाले हैं और मैं (स्वयं जीव) नित्य रहनेवाला हूँ; अतः मैं स्वरूपसे कर्मोंसे अलग (निर्लिप्त) हूँ—इस वास्तविकताका अनुभव करना ही ‘जानना’ है। वास्तविकताकी तहमें बैठे बिना

जानना हो ही कैसे सकता है?

जैसे काजलकी कोठरीमें प्रवेश करके भी काजलसे सर्वथा निर्लिप्त रहना साधारण बुद्धिमान्का काम नहीं है, ऐसे ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहना साधारण बुद्धिमान्के वशका काम नहीं है। इसलिये भगवान् ऐसे कर्मयोगीको मनुष्योंमें बुद्धिमान् कहते हैं। अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी भगवान्ने उसे 'मेधावी' (बुद्धिमान्) कहा है।

अभी सत्रहवें श्लोकमें भगवान्ने कर्म, अकर्म और विकर्म—तीनोंका तत्त्व समझनेके लिये कहा था। यहाँ 'मनुष्येषु बुद्धिमान्' पद देकर भगवान् मानो यह बताते हैं कि जिसने कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्मके तत्त्वको जान लिया है, उसने सब कुछ जान लिया है अर्थात् वह ज्ञात-ज्ञातव्य हो गया है।

'स युक्तः'—कर्मयोगी सिद्धि-असिद्धिमें सम रहता है। कर्मका फल मिले या न मिले, उसमें कभी विषमता नहीं आती; क्योंकि उसने फलेच्छाका सर्वथा त्याग कर दिया है। समताका नाम योग है। वह नित्य-निरन्तर समतामें स्थित है, इसलिये वह योगी है।

प्राणिमात्रका परमात्मासे स्वतःसिद्ध नित्ययोग है। परन्तु मनुष्यने संसारसे अपना सम्बन्ध मान लिया, इसीसे वह उस नित्ययोगको भूल गया। तात्पर्य यह कि जडके साथ अपना सम्बन्ध मानना ही परमात्माके साथ अपने नित्य सम्बन्धको

परिशिष्ट भाव—एक विभाग कर्मका है और एक विभाग अकर्मका है। इन दोनोंमें अकर्म ही सार तत्त्व है। इसलिये जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है अर्थात् कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् निर्लिप्त रहते हुए कर्म करता है, उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। जैसे किसी कर्मके आरम्भमें तो गणेशजीका पूजन करते हैं, पर कर्म करते समय हरदम उनका पूजन नहीं करते, ऐसे ही कोई यह न समझ ले कि कर्मके आरम्भमें एक बार निर्लिप्त हो गये तो अब उस निर्लिप्तताको हरदम नहीं रखना है, इसलिये भगवान्ने यहाँ उपर्युक्त दो बातें कही हैं। तात्पर्य है कि अपनेमें कभी भी लिप्तता (फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान) नहीं आनी चाहिये अर्थात् हरदम निर्लिप्त रहना चाहिये।

तीसरे अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है—'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' और यहाँ बताते हैं कि कर्म करनेकी अपेक्षा भी अकर्म (अकर्तृत्व)—को देखना श्रेष्ठ है और ऐसा देखनेवाले मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यमें फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान नहीं रहने चाहिये; क्योंकि इन दोनोंसे ही मनुष्य बँधता है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाले अर्थात् कर्मोंका तत्त्व जाननेवाले सिद्ध कर्मयोगी महापुरुषका वर्णन करते हैं।

**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥**

भूलना है। कर्मयोगी फलेच्छा, ममता और आसक्तिका त्याग करके केवल दूसरोंके लिये ही कर्तव्य-कर्म करता है, जिससे उसका जडसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है और उसे परमात्मासे स्वतःसिद्ध नित्ययोगकी अनुभूति हो जाती है। इसलिये उसे योगी कहा गया है।

'युक्तः' पदमें यह भाव है कि उसने प्राप्त करनेयोग्य तत्त्वको प्राप्त कर लिया है अर्थात् वह प्राप्त-प्राप्तव्य हो गया है।

'कृत्स्नकर्मकृत्'—जबतक कुछ 'पाना' शेष रहता है, तबतक 'करना' शेष रहता ही है अर्थात् जबतक कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छा रहती है, तबतक करनेका राग नहीं मिटता।

नाशवान् कर्मोंसे मिलनेवाला फल भी नाशवान् ही होता है। जबतक नाशवान् फलकी इच्छा है, तबतक (कर्म) करना समाप्त नहीं होता। परन्तु जब नाशवान्से सर्वथा सम्बन्ध छूटकर परमात्मप्राप्तिरूप अविनाशी फलकी प्राप्ति हो जाती है, तब (कर्म) करना सदाके लिये समाप्त हो जाता है और कर्मयोगीका कर्म करने तथा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। ऐसा कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला है अर्थात् उसके लिये अब कुछ करना शेष नहीं है, वह कृतकृत्य हो गया है।

करना, जानना और पाना शेष नहीं रहनेसे वह कर्मयोगी अशुभ संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (गीता—चौथे अध्यायका सोलहवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक)।

यस्य	= जिसके	हैं (तथा)	गये हैं,
सर्वे	= सम्पूर्ण	ज्ञानाग्निदग्ध-	तम् = उसको
समारम्भाः	= कर्मोंके आरम्भ	कर्माणम्	बुधाः = ज्ञानिजन (भी)
कामसङ्कल्प-	= संकल्प और	ज्ञानरूपी	पण्डितम् = पण्डित (बुद्धिमान्)
वर्जिताः	कामनासे रहित	अग्निसे जल	आहुः = कहते हैं।

व्याख्या—‘यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्प-वर्जिताः’^१—विषयोंका बार-बार चिन्तन होनेसे, उनकी बार-बार याद आनेसे उन विषयोंमें ‘ये विषय अच्छे हैं, काममें आनेवाले हैं, जीवनमें उपयोगी हैं और सुख देनेवाले हैं’—ऐसी सम्यग्बुद्धिका होना ‘संकल्प’ है और ‘ये विषय-पदार्थ हमारे लिये अच्छे नहीं हैं, हानिकारक हैं’—ऐसी बुद्धिका होना ‘विकल्प’ है। ऐसे संकल्प और विकल्प बुद्धिमें होते रहते हैं। जब विकल्प मिटकर केवल एक संकल्प रह जाता है, तब ‘ये विषय-पदार्थ हमें मिलने चाहिये, ये हमारे होने चाहिये’—इस तरह अन्तःकरणमें उनको प्राप्त करनेकी जो इच्छा पैदा हो जाती है, उसका नाम ‘काम’ (कामना) है। कर्मयोगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें संकल्प और कामना—दोनों ही नहीं रहते अर्थात् उसमें न तो कामनाओंका कारण संकल्प रहता है और न संकल्पोंका कार्य कामना ही रहती है। अतः उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे सब संकल्प और कामनासे रहित होते हैं।

संकल्प और कामना—ये दोनों कर्मके बीज हैं। संकल्प और कामना न रहनेपर कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्म बाँधनेवाले नहीं होते। सिद्ध महापुरुषमें भी संकल्प और कामना न रहनेसे उसके द्वारा होनेवाले कर्म बन्धनकारक नहीं होते। उसके द्वारा लोकसंग्रहार्थ, कर्तव्यपरम्परासुरक्षार्थ सम्पूर्ण कर्म होते हुए भी वह उन कर्मोंसे स्वतः सर्वथा निर्लिप्त रहता है।

भगवान्ने कहींपर संकल्पोंका (छठे अध्यायका चौथा श्लोक), कहींपर कामनाओंका (दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक) और कहींपर संकल्प तथा कामना—दोनोंका

(छठे अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ श्लोक) त्याग बताया है। अतः जहाँ केवल संकल्पोंका त्याग बताया गया है, वहाँ कामनाओंका और जहाँ केवल कामनाओंका त्याग बताया गया है, वहाँ संकल्पोंका त्याग भी समझ लेना चाहिये; क्योंकि संकल्प कामनाओंका कारण है और कामना संकल्पोंका कार्य है। तात्पर्य है कि साधकको सम्पूर्ण संकल्पों और कामनाओंका त्याग कर देना चाहिये।

मोटरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—

१—मोटर गैरेजमें खड़ी रहनेपर न इंजन चलता है और न पहिये चलते हैं। २—मोटर चालू करनेपर इंजन तो चलने लगता है, पर पहिये नहीं चलते। ३—मोटरको वहाँसे रवाना करनेपर इंजन भी चलता है और पहिये भी चलते हैं। ४—निरापद ढलवाँ मार्ग आनेपर इंजनको बंद कर देते हैं और पहिये चलते रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यकी भी चार अवस्थाएँ होती हैं—

१—न कामना होती है और न कर्म होता है। २—कामना होती है, पर कर्म नहीं होता। ३—कामना भी होती है और कर्म भी होता है। ४—कामना नहीं होती और कर्म होता है।

मोटरकी सबसे उत्तम (चौथी) अवस्था यह है कि इंजन न चले और पहिये चलते रहें अर्थात् तेल भी खर्च न हो और रास्ता भी तय हो जाय। इसी तरह मनुष्यकी सबसे उत्तम अवस्था यह है कि कामना न हो और कर्म होते रहें। ऐसी अवस्थावाले मनुष्यको ज्ञानिजन भी पण्डित कहते हैं।

‘समारम्भाः’^२ पदका यह भाव है कि कर्मयोगसे सिद्ध

१—जहाँ दोनों पदोंका अर्थ प्रधान होता है, वहाँ ‘द्वन्द्वसमास’ होता है। यहाँ ‘संकल्प’ और ‘काम’ दोनों शब्द अपने-अपने अर्थमें प्रधान हैं। अतः यहाँ ‘संकल्पाश्च कामाश्च’—ऐसा द्वन्द्वसमास होनेसे ‘संकल्पकामाः’—ऐसा रूप बना। परन्तु द्वन्द्वसमासके जिस पदमें कम स्वर होते हैं, उसका पूर्वप्रयोग होता है। यहाँ भी ‘काम’ शब्दमें कम स्वर होनेसे उसका पूर्वप्रयोग हुआ है; अतः ‘कामसंकल्पाः’—ऐसा रूप बना। अब ‘कामसंकल्पैर्वर्जिताः’—ऐसा तृतीया समास करनेपर पूरा पद ‘कामसंकल्पवर्जिताः’ बना।

२—यहाँ ‘समारम्भाः’ पद सिद्ध कर्मयोगीकी राग-द्वेषरहित सांगोपांग प्रवृत्तिका वाचक है, चौदहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें आये हुए ‘आरम्भ’ पदका वाचक नहीं है। कारण कि वहाँ ‘प्रवृत्ति’ और ‘आरम्भ’—ये दो शब्द आये हैं; अतः वहाँ कर्तव्य-कर्मको करना ‘प्रवृत्ति’ है तथा भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्मोंको शुरू करना ‘आरम्भ’ है।

महापुरुषके द्वारा हरेक कर्म सुचारुरूपसे, सांगोपांग और तत्परतापूर्वक होता है। दूसरा एक भाव यह भी है कि उसके कर्म शास्त्रसम्मत होते हैं। उसके द्वारा करनेयोग्य कर्म ही होते हैं। जिससे किसीका अहित होता हो, वह कर्म उससे कभी नहीं होता।

‘सर्वे’ पदका यह भाव है कि उसके द्वारा होनेवाले सब-के-सब कर्म संकल्प और कामनासे रहित होते हैं। कोई-सा भी कर्म संकल्पसहित नहीं होता। प्रातः उठनेसे लेकर रातमें सोनेतक शौच-स्नान, खाना-पीना, पाठ-पूजा, जप-चिन्तन, ध्यान-समाधि आदि शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म संकल्प और कामनासे रहित ही होते हैं।

‘ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्’—कर्मोंका सम्बन्ध ‘पर’- (शरीर-संसार-) के साथ है, ‘स्व’-(स्वरूप-) के साथ नहीं; क्योंकि कर्मोंका आरम्भ और अन्त होता है, पर स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है—इस तत्त्वको ठीक-ठीक जानना ही ‘ज्ञान’ है। इस ज्ञानरूप अग्निसे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंमें फल देनेकी (बाँधनेकी) शक्ति नहीं रहती (गीता—चौथे अध्यायका सोलहवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक)।

वास्तवमें शरीर और क्रिया—दोनों संसारसे अभिन्न हैं; पर स्वयं सर्वथा भिन्न होता हुआ भी भूलसे इनके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है। जब महापुरुषका अपने कहलानेवाले शरीरके साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता, तब जैसे संसार-मात्रसे सब कर्म होते हैं, ऐसे ही उसके कहलानेवाले शरीरसे सब कर्म होते हैं। इस प्रकार कर्मोंसे निर्लिप्तताका अनुभव होनेपर उस महापुरुषके वर्तमान कर्म ही नष्ट नहीं होते, प्रत्युत संचित कर्म भी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध-कर्म

भी केवल अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें उसके सामने आकर नष्ट हो जाते हैं; परन्तु फलसे असंग होनेके कारण वह उनका भोक्ता नहीं बनता अर्थात् किञ्चिन्मात्र भी सुखी या दुःखी नहीं होता। इसलिये प्रारब्ध-कर्म भी अस्थायी परिस्थितिमात्र उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं।

‘तमाहुः पण्डितं बुधाः’—जो कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके परमात्मामें लगा हुआ है, उस मनुष्यको समझना तो सुगम है, पर जो कर्मोंसे किञ्चिन्मात्र भी लिप्त हुए बिना तत्परतापूर्वक कर्म कर रहा है, उसे समझना कठिन है। सन्तोंकी वाणीमें आया है—

त्यागी शोभा जगतमें करता है सब कोय।

हरिया गृहस्थी संतका भेदी बिरला होय॥

तात्पर्य यह है कि संसारमें (बाहरसे त्याग करनेवाले) त्यागी पुरुषकी महिमा तो सब गाते हैं, पर गृहस्थमें रहकर सब कर्तव्य-कर्म करते हुए भी जो निर्लिप्त रहता है, उस (भीतरका त्याग करनेवाले) पुरुषको समझनेवाला कोई बिरला ही होता है।

जैसे कमलका पत्ता जलमें ही उत्पन्न होकर और जलमें रहते हुए भी जलसे लिप्त नहीं होता, ऐसे ही कर्मयोगी कर्मयोनि- (मनुष्यशरीर-) में ही उत्पन्न होकर और कर्ममय जगत्में रहकर कर्म करते हुए भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता^१। कर्मोंसे लिप्त न होना कोई साधारण बुद्धिमानकी काम नहीं है। पीछेके अठारहवें श्लोकमें भगवान्ने ऐसे कर्मयोगीको ‘मनुष्योंमें बुद्धिमान्’ कहा है और यहाँ कहा है कि उसे ज्ञानिजन भी पण्डित अर्थात् बुद्धिमान् कहते हैं। भाव यह है कि ऐसा कर्मयोगी पण्डितोंका भी पण्डित, ज्ञानियोंका भी ज्ञानी है^२।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

कर्मफलासङ्गम् = (जो) कर्म और फलकी आसक्तिका	नित्यतृप्तः = सदा तृप्त है, सः = वह कर्मणि = कर्मोंमें	अपि = भी (वास्तवमें) किञ्चित् = कुछ एव = भी
त्यक्त्वा = त्याग करके	अभिप्रवृत्तः = अच्छी तरह लगा हुआ	न = नहीं करोति = करता।
निराश्रयः = आश्रयसे रहित (और)		

१-निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी ॥ (अष्टावक्रगीता १८। ६१)

‘मूढ पुरुषकी निवृत्ति भी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेवाली होती है और ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति-रूप फलको देनेवाली होती है।’

२-गृहेषु पण्डिताः केचित्केचिन्मूर्खेषु पण्डिताः। सभायां पण्डिताः केचित्केचित्पण्डितपण्डिताः ॥

व्याख्या—‘त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्’—जब कर्म करते समय कर्ताका यह भाव रहता है कि शरीरादि कर्म-सामग्री मेरी है, मैं कर्म करता हूँ, कर्म मेरा और मेरे लिये है तथा इसका मेरेको अमुक फल मिलेगा, तब वह कर्मफलका हेतु बन जाता है। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषको प्राकृत पदार्थोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदका अनुभव हो जाता है, इसलिये कर्म करनेकी सामग्रीमें, कर्ममें तथा कर्मफलमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेके कारण वह कर्मफलका हेतु नहीं बनता।

सेना विजयकी इच्छासे युद्ध करती है। विजय होनेपर विजय सेनाकी नहीं, प्रत्युत राजाकी मानी जाती है; क्योंकि राजाने ही सेनाके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध किया है; उसे युद्ध करनेकी सामग्री दी है और उसे युद्ध करनेकी प्रेरणा की है और सेना भी राजाके लिये ही युद्ध करती है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कर्म-सामग्रीके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जीव उनके द्वारा किये गये कर्मोंके फलका भागी होता है।

कर्म-सामग्रीके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न होनेके कारण महापुरुषका कर्मफलके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

वास्तवमें कर्मफलके साथ स्वरूपका सम्बन्ध है ही नहीं। कारण कि स्वरूप चेतन, अविनाशी और निर्विकार है; परन्तु कर्म और कर्मफल—दोनों जड तथा विकारी हैं और उनका आरम्भ तथा अन्त होता है। सदा स्वरूपके साथ न तो कोई कर्म रहता है तथा न कोई फल ही रहता है। इस तरह यद्यपि कर्म और फलसे स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि जीवने भूलसे उनके साथ अपना सम्बन्ध मान लिया है। यह माना हुआ सम्बन्ध ही बन्धनका कारण है। अगर यह माना हुआ सम्बन्ध मिट जाय, तो कर्म और फलसे उसकी स्वतःसिद्ध निर्लिप्तताका बोध हो जाता है।

‘निराश्रयः’—देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिका किंचिन्मात्र भी आश्रय न लेना ही ‘निराश्रय’ अर्थात् आश्रयसे रहित होना है। कितना ही बड़ा धनी, राजा-महाराजा क्यों न हो, उसको देश, काल आदिका आश्रय लेना ही पड़ता है। परन्तु कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष देश, काल आदिका कोई आश्रय नहीं मानता। आश्रय मिले या न मिले—इसकी उसे किंचिन्मात्र भी परवाह नहीं होती। इसलिये वह निराश्रय होता है।

‘नित्यतृप्तः’—जीव (आत्मा) परमात्माका सनातन अंश होनेसे सत्-स्वरूप है। सत्का कभी अभाव नहीं

होता—‘**नाभावो विद्यते सतः**’ (गीता २। १६)। परन्तु जब वह असत्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब उसे अपनेमें अभाव अर्थात् कमीका अनुभव होने लगता है। उस कमीकी पूर्ति करनेके लिये वह सांसारिक वस्तुओंकी कामना करने लगता है। इच्छित वस्तुओंके मिलनेसे एक तृप्ति होती है; परन्तु वह तृप्ति ठहरती नहीं, वह क्षणिक होती है। कारण कि संसारकी प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि प्रतिक्षण अभावकी ओर जा रही है; अतः उनके आश्रित रहनेवाली तृप्ति स्थायी कैसे रह सकती है? सत्-वस्तुकी तृप्ति असत् वस्तुसे हो ही कैसे सकती है? अतः जीव जबतक उत्पत्ति-विनाशशील क्रियाओं और पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध मानता है तथा उनके आश्रित रहता है, तबतक उसे स्वतःसिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव नहीं होता।

कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुष निराश्रय अर्थात् संसारके आश्रयसे सर्वथा रहित होता है, इसलिये उसे स्वतःसिद्ध नित्यतृप्तिका अनुभव हो जाता है। तीसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें ‘**आत्मतृप्तः**’ पदसे भी इसी नित्यतृप्तिकी बात आयी है।

‘कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः’—‘**अभिप्रवृत्तः**’ पदका तात्पर्य है कि कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषके द्वारा होनेवाले सब कर्म सांगोपांग रीतिसे होते हैं; क्योंकि कर्मफलमें उसकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं होती। उसके सम्पूर्ण कर्म केवल संसारके हितके लिये होते हैं।

जिसकी कर्मफलमें आसक्ति होती है, वह सांगोपांग रीतिसे कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि फलके साथ सम्बन्ध होनेसे कर्म करते हुए बीच-बीचमें फलका चिन्तन होनेसे उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च हो जाती है, जिससे उसकी शक्ति पूरी तरह कर्म करनेमें नहीं लगती।

‘अपि’ पदका तात्पर्य है कि सांगोपांग रीतिसे सब कर्म करते हुए भी वह वास्तवमें किंचिन्मात्र भी कोई कर्म नहीं करता; क्योंकि सर्वथा निर्लिप्त होनेके कारण कर्मका स्पर्श ही नहीं होता। उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

जब वह कुछ भी नहीं करता, तब वह कर्मफलसे बँध ही कैसे सकता है? इसीलिये अठारहवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि कर्मफलका त्याग करनेवाले कर्मयोगीको कर्मोंका फल कहीं भी नहीं मिलता—‘**न तु सन्न्यासिनां क्वचित्।**’

प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। अतः जबतक प्रकृतिके

गुणों-(क्रिया और पदार्थ-) से सम्बन्ध है, तबतक कर्म न करते हुए भी मनुष्यका कर्मोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। प्रकृतिके गुणोंसे सम्बन्ध न रहनेपर मनुष्य कर्म करते हुए

भी कुछ नहीं करता। कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषका प्रकृतिजन्य गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये वह लोकहितार्थ सब कर्म करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करता।

परिशिष्ट भाव—जबतक मनुष्यमें कर्तृत्व है, तबतक वह करता है तो करता है, नहीं करता है तो करता है। परन्तु कर्तृत्व मिटनेपर वह कभी कुछ नहीं करता।

सम्बन्ध—उन्नीसवें-बीसवें श्लोकोंमें कर्मयोगसे सिद्ध महापुरुषकी कर्मोंसे निर्लिप्तताका वर्णन करके अब भगवान् इक्कीसवें श्लोकमें निवृत्तिपरायण और बाईसवें श्लोकमें प्रवृत्तिपरायण कर्मयोगके साधककी कर्मोंसे निर्लिप्तताका वर्णन करते हैं।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

यतचित्तात्मा	=जिसका शरीर और अन्तःकरण अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ है,	निराशीः	प्रकारके संग्रहका परित्याग कर दिया है, (ऐसा) = इच्छारहित (कर्मयोगी)	शारीरम्	= शरीर-सम्बन्धी
त्यक्तसर्वपरिग्रहः	=जिसने सब	केवलम्	=केवल	कर्म	= कर्म
				कुर्वन्	= करता हुआ (भी)
				किल्बिषम्	= पापको
				न, आप्नोति	= प्राप्त नहीं होता।

व्याख्या—‘यतचित्तात्मा’—संसारमें आशा या इच्छा रहनेके कारण ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि वशमें नहीं होते। इसी श्लोकमें ‘निराशीः’ पदसे बताया है कि कर्मयोगीमें आशा या इच्छा नहीं रहती। अतः उसके शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण स्वतः वशमें रहते हैं। इनके वशमें रहनेसे उसके द्वारा व्यर्थकी कोई क्रिया नहीं होती।

‘त्यक्तसर्वपरिग्रहः’—कर्मयोगी अगर संन्यासी है, तो वह सब प्रकारकी भोग-सामग्रीके संग्रहका स्वरूपसे त्याग कर देता है। अगर वह गृहस्थ है, तो वह भोग-बुद्धिसे (अपने सुखके लिये) किसी भी सामग्रीका संग्रह नहीं करता। उसके पास जो भी सामग्री है उसको वह अपनी और अपने लिये न मानकर संसारकी और संसारके लिये ही मानता है तथा संसारके सुखमें ही उस सामग्रीको लगाता है। भोगबुद्धिसे संग्रहका त्याग करना तो साधकमात्रके लिये आवश्यक है।

[ऐसा निवृत्तिपरक श्लोक गीतामें और कहीं नहीं आया है। छठे अध्यायके दसवें श्लोकमें ध्यानयोगीके लिये और अठारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें ज्ञानयोगीके लिये परिग्रहका त्याग करनेकी बात आयी है। परन्तु उनसे भी ऊँची श्रेणीके परिग्रह-त्यागकी बात ‘त्यक्तसर्वपरिग्रहः’ पदसे यहीं आयी है; क्योंकि ‘परिग्रह’ के साथ ‘सर्व’ शब्द केवल यहाँ आया है। बारहवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें

भक्तियोगीके लिये ‘अनिकेतः’ पद आया है, पर वहाँ इसका अर्थ निवास-स्थानमें ममता-आसक्तिसे रहित होना है।]

‘निराशीः’—कर्मयोगीमें आशा, कामना, स्पृहा, वासना आदि नहीं रहते। वह बाहरसे ही भोग-सामग्रीके संग्रहका त्याग करता हो—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत वह भीतरसे भी भोग-सामग्रीकी आशा या इच्छाका त्याग कर देता है। आशा या इच्छाका सर्वथा त्याग न होनेपर भी उसका उद्देश्य इनके त्यागका ही रहता है।

‘शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्’—‘शारीरम् कर्म’ (शरीर-सम्बन्धी कर्म)—के दो अर्थ होते हैं— एक तो शरीरसे होनेवाला कर्म और दूसरा शरीर-निर्वाहके लिये किया जानेवाला कर्म। शरीरसे होनेवाले कर्मकी बात पाँचवें अध्यायके ग्यारहवें श्लोकमें भी आयी है, जिसका तात्पर्य है कि सभी कर्म केवल शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके द्वारा ही हो रहे हैं, मेरा उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा मानकर कर्मयोगी अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। परन्तु यहाँ आया श्लोक निवृत्तिपरक है, इसलिये यहाँ उपर्युक्त पदोंका अर्थ शरीरनिर्वाहमात्रके लिये किये जानेवाले आवश्यक कर्म (खान-पान, शौच-स्नान आदि) मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। निवृत्ति-परायण कर्मयोगी केवल उतने ही कर्म करता है, जितनेसे केवल शरीर-निर्वाह हो जाय।

‘नाप्नोति किल्बिषम्’—जो कर्म करने अथवा न करनेसे अपना किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध रखता है, वह पापको अर्थात् जन्म-मरणरूप बन्धनको प्राप्त होता है। परन्तु आशारहित कर्मयोगी कर्म करने अथवा न करनेसे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता, इसलिये वह पापको प्राप्त नहीं होता अर्थात् उसके सब कर्म अकर्म हो जाते हैं।

निवृत्तिपरायण होनेपर भी कर्मयोगी कभी आलस्य-प्रमाद नहीं करता। आलस्य-प्रमादका भी भोग होता है। एकान्तमें यों ही पड़े रहनेसे आलस्यका भोग होता है और शास्त्रविरुद्ध तथा निरर्थक कर्म करनेसे प्रमादका भोग होता है। इस प्रकार निवृत्तिमें आलस्यके सुखका और प्रवृत्तिमें प्रमादके सुखका भोग हो सकता है। अतः आलस्य-प्रमादसे मनुष्य पापको प्राप्त होता है। परन्तु बहुत कम कर्म करनेपर भी निवृत्ति-परायण कर्मयोगीमें किंचिन्मात्र भी आलस्य-प्रमाद नहीं आते। यदि उसमें किंचिन्मात्र भी आलस्य-प्रमाद आते, तो ‘किल्बिषम् न आप्नोति’ कहना बनता ही नहीं। वह ‘यतचित्तात्मा’ है अर्थात् उसके शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण संयत हैं, इसलिये उसमें आलस्य-प्रमाद आ ही नहीं सकते। शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरणके वशमें होनेसे, भोग-सामग्रीका त्याग करनेसे तथा आशा, कामना, ममता आदिसे रहित होनेसे उसके द्वारा निषिद्ध क्रिया हो सकती ही नहीं।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब उसके द्वारा पाप-क्रिया हो सकती ही नहीं, तब यह क्यों कहा गया कि वह पापको प्राप्त नहीं होता? इसका समाधान यह है कि क्रियामात्रके आरम्भमें अनिवार्य दोष (पाप) पाये जाते हैं—‘सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः’ (गीता १८। ४८)। परन्तु मूलमें असत्के संग—कामना, ममता और आसक्तिसे ही पाप लगते हैं। कर्मयोगीमें कामना, ममता और आसक्ति होती ही नहीं अथवा उसका कामना, ममता और आसक्तिका उद्देश्य ही नहीं होता; इसलिये उसका कर्म करनेसे अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं होता। इसी कारण न तो उसे कर्मोंमें रहनेवाला आनुषंगिक पाप लगता है और न उसे शास्त्रविहित कर्मोंके त्यागका ही पाप लगता है।

दूसरी एक शंका यह हो सकती है कि तीसरे अध्यायमें भगवान्ने सिद्ध महापुरुषको भी (अपने लिये कोई कर्तव्य शेष न रहनेपर भी) लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेकी प्रेरणा की है (तीसरे अध्यायका पचीसवाँ-

छब्बीसवाँ श्लोक)। अपने लिये भी भगवान्ने कहा है कि त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य और प्राप्तव्य न होनेपर भी मैं सावधानीपूर्वक कर्म करता हूँ (तीसरे अध्यायके बाईसवेंसे चौबीसवें श्लोकतक)। अतः शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कर्म करनेवाले कर्मयोगीको क्या लोकसंग्रहके त्यागका दोष नहीं लगेगा? इसका समाधान यह है कि कामना, ममता आदि न रहनेके कारण उसे कोई दोष नहीं लगता। यद्यपि सिद्ध महापुरुषमें और भगवान्में कामना, ममता आदिका सर्वथा अभाव होता है, तथापि वे जो लोकसंग्रहके लिये कर्म करते हैं, यह उनकी दया, कृपा ही है। वास्तवमें वे लोकसंग्रह करें अथवा न करें, इसमें वे स्वतन्त्र हैं, इसकी उनपर कोई जिम्मेवारी नहीं है (गीता—तीसरे अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। वास्तवमें यह भी निवृत्तिपरायण साधकोंके लिये एक लोकसंग्रह ही है। लोकसंग्रह किया नहीं जाता, प्रत्युत होता है।

तीसरी एक शंका यह भी हो सकती है कि तीसरे अध्यायके तेरहवें श्लोकमें भगवान्ने केवल अपने शरीरका पोषण करनेवाले मनुष्यको पापी कहा है और यहाँ कहते हैं कि शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कर्म करनेवाला पापको नहीं प्राप्त होता। दोनोंका सामंजस्य कैसे हो? इसका समाधान यह है कि जबतक भोगबुद्धि है और कर्मों तथा पदार्थोंमें आसक्ति बनी हुई है, तबतक कर्म करने अथवा न करनेसे पाप लगता ही है, इसीलिये वहाँ ‘पचन्ति आत्मकारणात्’ पद आये हैं। परन्तु उस कर्मयोगीमें भोगबुद्धि नहीं है और कर्मों तथा पदार्थोंमें आसक्ति भी नहीं है; अतः सर्वथा निर्लिप्त होनेसे उसे कर्म करने अथवा न करनेसे किंचिन्मात्र भी पाप नहीं लगता।

प्रश्न—इस श्लोकको अगर सांख्ययोगीका मान लें तो क्या आपत्ति है; क्योंकि इसमें आये सब लक्षण सांख्य-योगीमें घटते हैं?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि यहाँ कर्मयोगका प्रसंग है, इसलिये यह श्लोक मुख्यरूपसे कर्मयोगीका ही है। दूसरी बात, सांख्ययोगी अपनेको कर्ता मानता ही नहीं। उसमें ‘मैं कुछ भी नहीं करता हूँ’ (गीता—पाँचवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)—ऐसा स्पष्ट विवेक रहता है; फिर उसके लिये ‘कर्म करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता’—ऐसा कहना कैसे बन सकता है?

कर्मयोगके साधकमें वैसा स्पष्ट विवेक जाग्रत् न होनेपर भी उसका यह निश्चय रहता है कि ‘मेरा कुछ नहीं है; मेरे लिये कुछ नहीं चाहिये और मेरे लिये कुछ नहीं करना है।’

इन तीन बातोंका दृढ़ निश्चय रहनेके कारण वह कर्म करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहता है।

लोगोंमें प्रायः ऐसी मान्यता है कि कर्मयोगी गृहस्थ-आश्रममें और ज्ञानयोगी (सांख्ययोगी) संन्यास-आश्रममें रहता है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। जिसे शरीरसे

अपनी अलग सत्ताका स्पष्ट विवेक है, वह ज्ञानयोगी ही है; चाहे वह गृहस्थ-आश्रममें हो अथवा संन्यास-आश्रममें। जिसमें इतना विवेक नहीं है, पर उपर्युक्त तीन बातोंका निश्चय पक्का है, वह कर्मयोगी ही है; चाहे वह गृहस्थ-आश्रममें हो अथवा संन्यास-आश्रममें।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

जो कर्मयोगी फलकी इच्छाके बिना—

यदृच्छालाभसन्तुष्टः=अपने-आप	द्वन्द्वातीतः =द्वन्द्वोंसे रहित	समः =सम है, (वह)
जो कुछ मिल	(तथा)	कृत्वा = (कर्म) करते हुए
जाय, उसमें सन्तुष्ट	सिद्धौ =सिद्धि	अपि = भी (उससे)
रहता है (और)	च = और	न = नहीं
विमत्सरः = (जो) ईर्ष्यासे रहित,	असिद्धौ = असिद्धिमें	निबध्यते = बँधता।

व्याख्या—‘यदृच्छालाभसन्तुष्टः’—कर्मयोगी निष्काम-भावपूर्वक सांगोपांग रीतिसे सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करता है। फल-प्राप्तिका उद्देश्य न रखकर कर्म करनेपर फलके रूपमें उसे अनुकूलता या प्रतिकूलता, लाभ या हानि, मान या अपमान, स्तुति या निन्दा आदि जो कुछ मिलता है, उससे उसके अन्तःकरणमें कोई असन्तोष पैदा नहीं होता। जैसे, वह व्यापार करता है तो उसे व्यापारमें लाभ हो अथवा हानि, उसके अन्तःकरणपर उसका कोई असर नहीं पड़ता। वह हरेक परिस्थितिमें समानरूपसे सन्तुष्ट रहता है; क्योंकि उसके मनमें फलकी इच्छा नहीं होती। तात्पर्य यह है कि व्यापारमें उसे लाभ-हानिका ज्ञान तो होता है तथा वह उसके अनुसार यथोचित चेष्टा भी करता है, पर परिणाममें वह सुखी-दुःखी नहीं होता। यदि साधकके अन्तःकरणपर अनुकूलता-प्रतिकूलताका थोड़ा असर पड़ भी जाय, तो भी उसे घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि साधकके अन्तःकरणमें वह प्रभाव स्थायी नहीं रहता, शीघ्र मिट जाता है।

उपर्युक्त पदोंमें आया ‘लाभ’ शब्द प्राप्तिके अर्थमें है, जिसके अनुसार केवल लाभ या अनुकूलताका मिलना ही ‘लाभ’ नहीं है, प्रत्युत लाभ-हानि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि जो कुछ प्राप्त हो जाय, वह सब ‘लाभ’ ही है।

‘विमत्सरः’—कर्मयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकता मानता है—‘सर्वभूतात्मभूतात्मा’ (गीता ५।७)। इसलिये उसका किसी भी प्राणीसे किंचिन्मात्र भी ईर्ष्याका

भाव नहीं रहता।

‘विमत्सरः’ पद अलगसे देनेका भाव यह है कि अपनेमें किसी प्राणीके प्रति किंचिन्मात्र भी ईर्ष्याका भाव न आ जाय, इस विषयमें कर्मयोगी बहुत सावधान रहता है। कारण कि कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाएँ प्राणिमात्रके हितके लिये ही होती हैं; अतः यदि उसमें किंचिन्मात्र भी ईर्ष्याका भाव होगा, तो उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये नहीं हो सकेंगी।

ईर्ष्या-दोष बहुत सूक्ष्म है। दो दूकानदार हैं और आपसमें मित्रता रखते हैं। उनमें एककी दूकान दूसरेकी अपेक्षा ज्यादा चल जाय, तो दूसरेमें थोड़ी ईर्ष्या पैदा हो जायगी कि उसकी दूकान ज्यादा चल गयी, मेरी कम चली। इस प्रकार ईर्ष्या-दोषके कारण मित्रसे भी मित्रकी उन्नति नहीं सही जाती। जहाँ आपसमें प्रेम है, एकता है, मित्रता है, वहाँ भी ईर्ष्या-दोष आ जाता है; फिर जहाँ वैर, भिन्नता आदि हो, वहाँका तो कहना ही क्या है? इसलिये साधकको इस दोषसे बचनेके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये।

‘द्वन्द्वातीतः’—कर्मयोगी लाभ-हानि, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होता है, इसलिये उसके अन्तःकरणमें उन द्वन्द्वोंसे होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते।

द्वन्द्व अनेक प्रकारके होते हैं; जैसे—भगवान्का सगुण-

साकाररूप ठीक है या निर्गुण-निराकाररूप ठीक है, अद्वैत सिद्धान्त ठीक है या द्वैत सिद्धान्त ठीक है, भगवान्‌में मन लगा या नहीं लगा, एकान्त मिला या नहीं मिला, शान्ति मिली या नहीं मिली, सिद्धि मिली या नहीं मिली, इत्यादि। इन सब द्वन्द्वोंके साथ सम्बन्ध न होनेसे ही साधक निर्द्वन्द्व होता है। जैसे तराजू किसी भी तरफ झुक जाय तो वह बराबर नहीं कहलाता, ऐसे ही साधकके अन्तःकरणमें किसी भी तरफ झुकाव हो जाय तो वह द्वन्द्वातीत नहीं कहलाता।

कर्मयोगी सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे अतीत होता है, इसलिये वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका तीसरा श्लोक)।

‘समः सिद्धावसिद्धौ च’—किसी भी कर्तव्य-कर्मका निर्विघ्नरूपसे पूरा हो जाना सिद्धि है और किसी प्रकारके विघ्न, बाधाके कारण उसका पूरा न होना असिद्धि है। कर्मका फल मिल जाना सिद्धि है और न मिलना असिद्धि है। सिद्धि और असिद्धिमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका न होना ही सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना है। दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें ‘सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा’ पदोंमें भी यही भाव आया है।

अपना कुछ भी नहीं है, अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ भी नहीं करना है—ये तीनों बातें ठीक-ठीक अनुभवमें आ जायँ, तभी सिद्धि और असिद्धिमें पूर्णतः समता आयेगी।

‘कृत्वापि न निबध्यते’—यहाँ ‘कृत्वा अपि’ पदोंका तात्पर्य है कि कर्मयोगी कर्म करते हुए भी नहीं बँधता, फिर कर्म न करते हुए बँधनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वह दोनों अवस्थाओंमें निर्लिप्त रहता है।

जैसे शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कर्म करनेवाला कर्मयोगी

कर्मोंसे नहीं बँधता, वैसे ही शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला कर्मयोगी भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

वास्तवमें देखा जाय तो कर्मयोगमें कर्म करना, अधिक करना, कम करना अथवा न करना बन्धन या मुक्तिका कारण नहीं है। इनके साथ जो लिप्तता (लगाव) है, वही बन्धनका कारण है और जो निर्लिप्तता है, वही मुक्तिका कारण है। जैसे नाटकमें एक व्यक्ति लक्ष्मणका और दूसरा व्यक्ति मेघनादका स्वाँग धारण करता है और दोनों व्यक्ति अपने-अपने स्वाँगको ठीक-ठीक निभाते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं अर्थात् अपनेको वास्तवमें लक्ष्मण या मेघनाद नहीं मानते। ऐसे ही कर्मयोगी अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार कर्तव्यका पालन करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहता है अर्थात् उनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता। उसका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर रहनेवाले स्वरूपके साथ रहता है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ नहीं। इसलिये उसकी स्थिति स्वाभाविक ही समतामें रहती है। समतामें स्थिति रहनेसे वह कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधता।

यदि विशेष विचारपूर्वक देखा जाय तो समता स्वतः-सिद्ध है। यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि अनुकूल परिस्थितिमें हम जो रहते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी हम वही रहते हैं। यदि हम वही (एक ही) न रहते, तो दो अलग-अलग (अनुकूल और प्रतिकूल) परिस्थितियोंका ज्ञान किसे होता? इससे सिद्ध हुआ कि परिवर्तन परिस्थितियोंमें होता है अपने स्वरूपमें नहीं। इसलिये परिस्थितियोंके बदलनेपर भी स्वरूपसे हम सम (ज्यों-के-त्यों) ही रहते हैं। भूल यह होती है कि हम परिस्थितियोंकी ओर तो देखते हैं, पर स्वरूपकी ओर नहीं देखते। अपने सम स्वरूपकी ओर न देखनेके कारण ही हम आने-जाने-वाली परिस्थितियोंसे मिलकर सुखी-दुःखी होते हैं।

सम्बन्ध—तीसरे अध्यायके नवें श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने ‘व्यतिरेक रीति’ से कहा था कि यज्ञसे अतिरिक्त कर्म मनुष्यको बाँधते हैं। अब तेईसवें श्लोकके उत्तरार्धमें उसी बातको ‘अन्वय रीति’ से कहते हैं।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

गतसङ्गस्य = जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है,

मुक्तस्य = जो मुक्त हो गया है,

ज्ञानावस्थित-चेतसः = जिसकी बुद्धि स्वरूपके ज्ञानमें स्थित है, (ऐसे केवल)

यज्ञाय = यज्ञके लिये

आचरतः = कर्म करनेवाले मनुष्यके

समग्रम् = सम्पूर्ण

कर्म = कर्म

प्रविलीयते = नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या—[कर्मयोगीके सम्पूर्ण कर्मोंके विलीन होनेकी बात गीताभरमें केवल इसी श्लोकमें आयी है, इसलिये यह कर्मयोगका मुख्य श्लोक है। इसी प्रकार चौथे अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक ज्ञानयोगका और अठारहवें अध्यायका छालठवाँ श्लोक भक्तियोगका मुख्य श्लोक है।]

‘गतसङ्गस्य’—क्रियाओंका, पदार्थोंका, घटनाओंका, परिस्थितियोंका, व्यक्तियोंका जो संग है, इनके साथ जो हृदयसे लगाव है, वही वास्तवमें बाँधनेवाला अर्थात् जन्म-मरण देनेवाला है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। स्वार्थभावको छोड़कर केवल लोगोंके हितके लिये, लोकसंग्रहार्थ कर्म करते रहनेसे कर्मयोगी क्रियाओं, पदार्थों आदिसे असंग हो जाता है अर्थात् उसकी आसक्ति सर्वथा मिट जाती है।

वास्तवमें मनुष्य स्वरूपसे असंग ही है—**‘असंगो ह्ययं पुरुषः’** (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। किंतु असंग होते हुए भी यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, पदार्थ, परिस्थिति, व्यक्ति आदिसे सम्बन्ध मानकर सुखकी इच्छासे उनमें आबद्ध हो जाता है। मेरी मनचाही हो अर्थात् जो मैं चाहता हूँ, वही हो और जो मैं नहीं चाहता, वह नहीं हो—ऐसा भाव जबतक रहता है, तबतक यह संग बढ़ता ही रहता है। वास्तवमें होता वही है, जो होनेवाला है। जो होनेवाला है उसे चाहें या न चाहें, वह होगा ही; और जो नहीं होनेवाला है, उसे चाहें या न चाहें, वह नहीं होगा। अतः अपनी मनचाही करके मनुष्य व्यर्थमें (बिना कारण) फँसता है और दुःख पाता है।

कर्मयोगी संसारसे मिली हुई शरीरादि वस्तुओंको अपनी और अपने लिये न मानकर उन्हें संसारकी ही मानकर संसारकी सेवामें अर्पण कर देता है। इससे वस्तुओं और क्रियाओंका प्रवाह संसारकी ओर ही हो जाता है और अपना असंग स्वरूप ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

कर्मयोगीका ‘अहम्’ भी सेवामें लग जाता है। तात्पर्य यह है कि उसके भीतर ‘मैं सेवक हूँ’ यह भाव भी नहीं रहता। यह भाव तो मनुष्यको सेवकपनेके अभिमानसे बाँध देता है। सेवकपनेका अभिमान तभी होता है, जब सेवा-सामग्रीके साथ अपनापन होता है। सेवाकी वस्तु उसीकी थी, उसीको दे दी तो सेवा क्या हुई? हम तो उससे उन्नत हुए। इसलिये सेवक न रहे, केवल सेवा रह जाय। यह भाव रहे कि सेवाके बदलेमें धन, मान, बड़ाई, पद, अधिकार आदि कुछ भी लेना नहीं है; क्योंकि उसपर

हमारा हक ही नहीं लगता। उसे स्वीकार करना तो अनधिकार चेष्टा है। लोग मेरेको सेवक कहें—ऐसा भाव भी न रहे और यदि वे कहें तो उसमें राजी भी न हो। इस प्रकार संसारकी वस्तुओंको संसारकी सेवामें सर्वथा लगा देनेसे अन्तःकरणमें एक प्रसन्नता होती है। उस प्रसन्नताका भी भोग न किया जाय तो स्वतःसिद्ध असंगताका अनुभव हो जाता है।

‘मुक्तस्य’—जो अपने स्वरूपसे सर्वथा अलग हैं, उन क्रियाओं और शरीरादि पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध न होते हुए भी कामना, ममता और आसक्तिपूर्वक उनसे अपना सम्बन्ध मान लेनेसे मनुष्य बाँध जाता है अर्थात् पराधीन हो जाता है। कर्मयोगका अनुष्ठान करनेसे जब माना हुआ (अवास्तविक) सम्बन्ध मिट जाता है, तब कर्मयोगी सर्वथा असंग हो जाता है। असंग होते ही वह सर्वथा मुक्त हो जाता है अर्थात् स्वाधीन हो जाता है।

‘ज्ञानावस्थितचेतसः’—जिसकी बुद्धिमें स्वरूपका ज्ञान नित्य-निरन्तर जाग्रत् रहता है, वह **‘ज्ञानावस्थित-चेतसः’** है। स्वरूप-ज्ञान होते ही उसकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, जो वास्तवमें पहलेसे ही थी।

वास्तवमें ज्ञान संसारका ही होता है। स्वरूपका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि स्वरूप स्वतःज्ञानस्वरूप है। क्रिया और पदार्थ ही संसार है। क्रिया और पदार्थका विभाग अलग है तथा स्वरूपका विभाग अलग है अर्थात् क्रिया और पदार्थका स्वरूपके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। क्रिया और पदार्थ जड़ हैं तथा स्वरूप चेतन है। क्रिया और पदार्थ प्रकाश्य हैं तथा स्वरूप प्रकाशक है। इस प्रकार क्रिया और पदार्थकी स्वरूपसे भिन्नताका ठीक-ठीक ज्ञान होते ही क्रिया और पदार्थरूप संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर स्वतःसिद्ध असंग स्वरूपमें स्थितिका अनुभव हो जाता है।

‘यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते’—‘कर्ममें अकर्म’ देखनेका ही एक प्रकार है—‘यज्ञार्थ कर्म’ अर्थात् यज्ञके लिये कर्म करना। निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना ‘यज्ञ’ है। जो यज्ञके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और जो यज्ञके लिये कर्म नहीं करता अर्थात् अपने लिये कर्म करता है, वह कर्मोंसे बाँध जाता है—**‘यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः’** (गीता ३। ९)।

प्रकृतिका कार्य है—क्रिया और पदार्थ। इन दोनोंमें क्रियाका भी आदि और अन्त होता है तथा पदार्थका भी

आदि और अन्त होता है। क्रिया आरम्भ होनेसे पहले भी नहीं थी और समाप्त होनेके बाद भी नहीं रहेगी, इसलिये बीचमें भी वह नहीं है—ऐसा सिद्ध हुआ। इसी प्रकार पदार्थ उत्पन्न होनेसे पहले भी नहीं था और नष्ट होनेके बाद भी नहीं रहेगा, इसलिये बीचमें भी वह नहीं है—यह सिद्ध हुआ; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु आदि और अन्तमें नहीं होती, वह मध्य (वर्तमान)—में भी नहीं होती^१। परन्तु चेतन स्वरूपका आदि और अन्त नहीं होता, वह सदा अक्रियरूपसे ज्यों-का-त्यों रहता है। वह चेतन-तत्त्व क्रिया और पदार्थ—दोनोंका प्रकाशक है। इस प्रकार क्रिया और पदार्थके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न होते हुए भी जब वह इनके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है। इस बन्धनसे छूटनेका उपाय है—फलेच्छाका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना।

संसारमें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ हो रही हैं और अनेक प्रकारके पदार्थ विद्यमान हैं। परन्तु मनुष्य जिन क्रियाओं और पदार्थोंसे आसक्ति, ममता और कामनापूर्वक अपना सम्बन्ध मानता है, उन्हीं क्रियाओं और पदार्थोंसे वह बँधता है। जब मनुष्य कामना, ममता और आसक्तिका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्म करता है और मिले हुए पदार्थोंको दूसरोंका ही मानकर उनकी सेवामें लगाता है, तब कर्मयोगीके सम्पूर्ण (क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध) कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् उसे कर्मोंके साथ अपनी स्वतःसिद्ध असंगताका अनुभव हो जाता है।

विशेष बात

(१) कर्ता, करण और कर्म—इन तीनोंके मिलनेसे कर्मोंका संचय होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका अठारहवाँ श्लोक)। यदि कर्तापन न रहे तो कर्मोंका संग्रह नहीं होता; क्योंकि करण और कर्म—दोनों कर्ताके ही अधीन हैं। अतः कर्मसंचयका मुख्य हेतु कर्तापन ही है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो कुछ-न-कुछ पानेकी इच्छासे ही करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है, जिससे कर्तापन उत्पन्न होता है। कर्तापनसे बन्धन होता है। जब मनुष्य पानेकी इच्छासे अपने लिये कर्म करता है, तब उसका

कर्तापन दृढ़ हो जाता है। जब कर्मयोगी पानेकी इच्छाका त्याग करके केवल यज्ञके लिये अर्थात् दूसरोंके हितके लिये कर्म करता है, तब उसका कर्तापन दूसरोंके लिये होता है; इससे उसे अपनी असंगताका अनुभव हो जाता है। इसलिये उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंका संचय नहीं होता। कारण कि जब आधार (कर्तापन) ही नहीं रहा, तब कर्म टिकेंगे ही कहाँ?

कर्मयोगमें 'ममता'—(मेरा-पन-) का त्याग और ज्ञानयोगमें 'अहंता' (मैं-पन-) का त्याग मुख्य है। ममताका त्याग होनेसे अहंताका और अहंताका त्याग होनेसे ममताका त्याग स्वतः हो जाता है। इसलिये कर्मयोगमें पहले 'ममता' मिटती है, फिर 'अहंता' स्वतः मिट जाती है^२, और ज्ञानयोगमें पहले 'अहंता' मिटती है, फिर 'ममता' स्वतः मिट जाती है। अहंता और ममताके मिटनेपर कर्तापन और भोक्तापन भी मिट जाते हैं।

कर्मयोगी अपने लिये कोई कर्म करता ही नहीं और कुछ चाहता ही नहीं; अतः वह कर्मोंके फलका भोक्ता नहीं बनता। जैसे, एक व्यक्तिको यहाँ कई दण्ड भोगने हैं। परन्तु वह मर जाय तो यहाँ उसके सभी दण्ड समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि जब भोगनेवाला व्यक्ति ही नहीं रहा, तब दण्ड भोगेगा ही कौन? ऐसे ही जब कर्मयोगीका भोक्तापन मिट जाता है, तब उसके सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं; क्योंकि जब भोक्ता ही नहीं रहा, तब कर्मोंका फल भोगेगा ही कौन?

(२) इसी अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह मेरेको प्राप्त होता है। जन्म तो केवल भगवान्के ही दिव्य होते हैं, पर कर्म मनुष्यमात्रके भी (यदि वे करना चाहें तो) दिव्य हो सकते हैं। अतः इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान् अपने कर्मोंकी दिव्यताका कारण बताते हैं कि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते अर्थात् मेरे कर्म अकर्म हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मोंका तत्त्व जानकर जो कर्म करता है, उसके भी कर्म अकर्म हो जाते हैं। फिर पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि मुमुक्षुओंने भी इसी प्रकार जानकर कर्म किये हैं। इसके बाद सोलहवें श्लोकमें भगवान् कर्मोंका तत्त्व कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, और

१-आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (माण्डूक्यकारिका ४। ३१)

२-अहंताके साथ भी ममता रहती है; जैसे—मेरा अहंकार। इसलिये कर्मयोगमें ममताका सर्वथा त्याग होनेपर अहंताके साथ भी ममता नहीं रहती। फिर अहंता (कथनमात्रके लिये) केवल संसारकी सेवाके लिये रह जाती है।

सत्रहवें श्लोकमें कहते हैं कि कर्म, विकर्म और अकर्म—तीनोंका तत्त्व जानना चाहिये। फिर अठारहवें श्लोकमें भगवान्ने मुख्यरूपसे कर्मोंका तत्त्व (अकर्म अथवा निर्लिप्तता) बतलाया।

कामनासे 'कर्म' होते हैं, कामनाके बढ़नेपर 'विकर्म' होते हैं और कामनाका अत्यन्त अभाव होनेसे 'अकर्म' होता

है। मूलमें इस (सोलहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतकके) प्रकरणका तात्पर्य 'अकर्म' का वर्णन करना ही है। इसीलिये भगवान्ने कर्म और विकर्म—दोनोंके मूल कारण 'कामना' के त्यागका तथा 'अकर्मका' वर्णन उन्नीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक प्रत्येक श्लोकमें किया है* और अन्तमें बत्तीसवें श्लोकमें इस प्रकरणका उपसंहार किया है।

परिशिष्ट भाव—एक 'क्रिया' होती है, एक 'कर्म' होता है और एक 'कर्मयोग' होता है। शरीर बालकसे जवान तथा जवानसे बूढ़ा होता है—यह 'क्रिया' है। क्रियासे न पाप होता है, न पुण्य; न बन्धन होता है, न मुक्ति। जैसे, गंगाजीका बहना क्रिया है; अतः कोई डूबकर मर जाय अथवा खेती आदि कोई परोपकार हो जाय तो गंगाजीको पाप-पुण्य नहीं लगता। जब मनुष्य क्रियासे सम्बन्ध जोड़कर कर्ता बन जाता है अर्थात् अपने लिये क्रिया करता है, तब वह क्रिया फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है—'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (गीता ३। ९)। कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये जब मनुष्य अपने लिये कुछ नहीं करता, प्रत्युत निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, तब वह 'कर्मयोग' हो जाता है। कर्मयोगसे बन्धन मिटता है—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।' बन्धन मिटनेसे योग हो जाता है अर्थात् परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

यह तेईसवाँ श्लोक कर्मयोगका मुख्य श्लोक है। जैसे भगवान्ने 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते' (४। ३७) पदोंसे ज्ञानाग्निके द्वारा ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण पाप भस्म होनेकी बात कही है और 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' (१८। ६६) पदोंसे भक्तके सम्पूर्ण पाप नष्ट होनेकी बात कही है, ऐसे ही इस श्लोकमें 'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' पदोंसे कर्मयोगीके समग्र कर्म (पाप) नष्ट होनेकी बात कही है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि यज्ञके लिये कर्म करनेसे सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं। साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण साधन भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। इसलिये अब आगेके सात श्लोकोंमें (चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक) भगवान् भिन्न-भिन्न प्रकारके साधनोंका 'यज्ञ' रूपसे वर्णन करते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

जिस यज्ञमें—

अर्पणम्	= अर्पण अर्थात् जिससे अर्पण किया जाय, वे सुक्, सुवा आदि पात्र (भी)	ब्रह्म	= ब्रह्म है (और)	मनुष्यकी ब्रह्ममें ही
ब्रह्म	= ब्रह्म है,	ब्रह्मणा	= ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा	कर्म-समाधि हो
हविः	= हव्य पदार्थ (तिल, जौ, घी आदि) (भी)	ब्रह्माग्नौ	= ब्रह्मरूप अग्निमें	गयी है,
		हुतम्	= आहुति देनारूप क्रिया (भी ब्रह्म है),	तेन = उसके द्वारा
		ब्रह्मकर्मसमाधिना	= (ऐसे यज्ञको करनेवाले) जिस	गन्तव्यम् = प्राप्त करनेयोग्य (फल भी)
				ब्रह्म = ब्रह्म
				एव = ही है।

* उदाहरणार्थ—कामनाके त्यागकी बात इन पदोंमें आयी है—'कामसङ्कल्पवर्जिताः' (४। १९); 'त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्' (४। २०); 'निराशीः' (४। २१); 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' (४। २२) और 'गतसंगस्य' (४। २३)।

अकर्मकी बात इन पदोंमें आयी है—'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' (४। १९); 'नैव किञ्चित्करोति सः' (४। २०); 'कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (४। २१); 'कृत्वापि न निबध्यते' (४। २२) और 'कर्म समग्रं प्रविलीयते' (४। २३)।

व्याख्या—[यज्ञमें आहुति मुख्य होती है। वह आहुति तब पूर्ण होती है, जब वह अग्निरूप ही हो जाय अर्थात् हव्य पदार्थकी अग्निसे अलग सत्ता ही न रहे। इसी प्रकार जितने भी साधन हैं, सब साध्यरूप हो जायँ, तभी वे यज्ञ होते हैं।

जितने भी यज्ञ हैं, उनमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करना भावना नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। भावना तो पदार्थोंकी है।

इस चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक जिन यज्ञोंका वर्णन किया गया है, वे सब 'कर्मयोग' के अन्तर्गत हैं। कारण कि भगवान्ने इस प्रकरणके उपक्रममें भी 'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात्' (४। १६)—ऐसा कहा है; और उपसंहारमें भी 'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्षयसे' (४। ३२)—ऐसा कहा है तथा बीचमें भी कहा है—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (४। २३)। मुख्य बात यह है कि यज्ञकर्ताके सभी कर्म 'अकर्म' हो जायँ। यज्ञ केवल यज्ञ-परम्पराकी रक्षाके लिये किये जायँ तो सब-के-सब कर्म अकर्म हो जाते हैं। अतः इन सब यज्ञोंमें 'कर्ममें अकर्म' का ही वर्णन है।]

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः'—जिस पात्रसे अग्निमें आहुति दी जाती है, उस स्तुक्, स्तुवा आदिको यहाँ 'अर्पणम्' पदसे कहा गया है—'अर्प्यते अनेन इति अर्पणम्'। उस अर्पणको ब्रह्म ही माने।

तिल, जौ, घी आदि जिन पदार्थोंका हवन किया जाता है, उन हव्य पदार्थोंको भी ब्रह्म ही माने।

'ब्रह्मग्नौ ब्रह्मणा हुतम्'—आहुति देनेवाला भी ब्रह्म ही है (गीता १३। २), जिसमें आहुति दी जा रही है, वह अग्नि भी ब्रह्म ही है और आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म ही है—ऐसा माने।

'ब्रह्मकर्मसमाधिना'—जैसे हवन करनेवाला पुरुष स्तुवा, हवि, अग्नि आदि सबको ब्रह्मका ही स्वरूप मानता है, ऐसे ही जो प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण, कर्म और पदार्थ सबको ब्रह्मरूप ही अनुभव करता है, उस पुरुषकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि होती है अर्थात् उसकी सम्पूर्ण कर्मोंमें ब्रह्मबुद्धि होती है। उसके लिये सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं। ब्रह्मके सिवाय कर्मोंका अपना कोई अलग

स्वरूप रहता ही नहीं।

'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्'—ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि होनेसे जिसके सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मरूप ही बन गये हैं, उसे फलके रूपमें निःसन्देह ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है। कारण कि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

इस (चौबीसवें) श्लोकको शिष्टजन भोजनके समय बोलते हैं, जिससे भोजनरूप कर्म भी यज्ञ बन जाय। भोजनरूप कर्ममें ब्रह्मबुद्धि इस प्रकार की जाती है—

(१) जिससे अर्पण किया जाता है, वह हाथ भी ब्रह्मरूप है—'सर्वतः पाणिपादं तत्' (गीता १३। १३)।

(२) भोजनके पदार्थ भी ब्रह्मरूप हैं—'अहमेवाज्यम्' (गीता ९। १६)।

(३) भोजन करनेवाला भी ब्रह्मरूप है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५। ७)।

(४) जठराग्नि भी ब्रह्मरूप है—'अहं वैश्वानरः' (गीता १५। १४)।

(५) भोजन करनारूप क्रिया अर्थात् जठराग्निमें अन्नकी आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—'अहं हुतम्' (गीता ९। १६)।

(६) इस प्रकार भोजन करनेवाले मनुष्योंके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है—'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' (गीता ४। ३१)।

मार्मिक बात

प्रकृतिके कार्य संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति या संसार क्रियारूप ही है*। कारण कि पदार्थ एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता; उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अतः वास्तवमें पदार्थ परिवर्तनरूप क्रियाका पुंज ही है। केवल 'राग' के कारण पदार्थकी मुख्यता दीखती है। सम्पूर्ण क्रियाएँ अभावमें जा रही हैं। अतः संसार अभावरूप ही है। भावरूपसे केवल एक अक्रिय-तत्त्व ब्रह्म ही है, जिसकी सत्तासे अभावरूप संसार भी सत्तावान् प्रतीत हो रहा है। संसारकी अभावरूपताको इस प्रकारसे समझ सकते हैं—

संसारकी तीन अवस्थाएँ दीखती हैं—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय; जैसे—वस्तु उत्पन्न होती है, फिर रहती है और अन्तमें नष्ट हो जाती है अथवा मनुष्य जन्म लेता है, फिर

* प्रकर्षेण करणं (भावे ल्युट्) इति प्रकृतिः । सम्यग्रीत्या सरतीति संसारः ॥

रहता है और अन्तमें मर जाता है। इससे आगे विचार करें तो केवल उत्पत्ति और प्रलयका ही क्रम है, स्थिति वस्तुतः है ही नहीं; जैसे—यदि मनुष्यकी पूरी आयु पचास वर्षकी है, तो बीस वर्ष बीतनेपर उसकी आयु तीस वर्ष ही रह जाती है। इससे आगे विचार करें तो केवल प्रलय-ही-प्रलय (नाश-ही-नाश) है, उत्पत्ति है ही नहीं; जैसे—आयुके जितने वर्ष बीत गये, उतने वर्ष मनुष्य मर ही गया।

इस प्रकार मनुष्य प्रतिक्षण ही मर रहा है, उसका जीवन प्रतिक्षण ही मृत्युमें जा रहा है। दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदृश्यमें जा रहा है। प्रलय अभावका ही नाम है, इसलिये अभाव ही शेष रहा। अभावकी सत्ता भावरूप ब्रह्मपर ही टिकी हुई है। अतः भावरूपसे एक ब्रह्म ही शेष रहा—‘सर्व खल्विदं ब्रह्म’ (छान्दोग्य० ३। १४। १); ‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७। १९)।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते । ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति ॥ २५ ॥

अपरे	= अन्य	पर्युपासते	= अनुष्ठान करते हैं	यज्ञके द्वारा
योगिनः	= योगीलोग		(और)	एव = ही
दैवम्	= दैव (भगवदर्पणरूप)	अपरे	= दूसरे (योगीलोग)	यज्ञम् = (जीवात्मारूप)
यज्ञम्	= यज्ञका	ब्रह्माग्नौ	= ब्रह्मरूप अग्निमें	यज्ञका
एव	= ही	यज्ञेन	= (विचाररूप)	उपजुहति = हवन करते हैं ।

व्याख्या—‘दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते’—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप यज्ञ करनेवाले साधकका वर्णन किया। यहाँ भगवान् ‘अपरे’ पदसे उससे भिन्न प्रकारके यज्ञ करनेवाले साधकोंका वर्णन करते हैं।

यहाँ ‘योगिनः’ पद यज्ञार्थ कर्म करनेवाले निष्काम साधकोंके लिये आया है।

सम्पूर्ण क्रियाओं तथा पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर उन्हें केवल भगवान्का और भगवान्के लिये ही मानना ‘दैवयज्ञ’ अर्थात् भगवदर्पणरूप यज्ञ है। भगवान् देवोंके भी देव हैं, इसलिये सब कुछ उनके अर्पण कर देनेको ही यहाँ ‘दैवयज्ञ’ कहा गया है।

परिशिष्ट भाव—‘ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति’ का यह अर्थ भी ले सकते हैं—दूसरे योगीलोग संसाररूप ब्रह्मकी सेवाके लिये केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञके लिये कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ करते हैं अर्थात् यज्ञार्थ कर्म करते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका नवाँ और चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुहति । शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुहति ॥ २६ ॥

अन्ये	= अन्य (योगीलोग)	संयमाग्निषु	= संयमरूप अग्निमें	शब्दादीन्	= शब्दादि
श्रोत्रादीनि	= श्रोत्रादि	जुहति	= हवन किया करते हैं (और)	विषयान्	= विषयोंका
इन्द्रियाणि	= समस्त इन्द्रियोंका	अन्ये	= दूसरे (योगीलोग)	इन्द्रियाग्निषु	= इन्द्रियरूप अग्निमें
				जुहति	= हवन किया करते हैं ।

किसी भी क्रिया और पदार्थमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति, ममता और कामना न रखकर उन्हें सर्वथा भगवान्का मानना ही दैवयज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

‘ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुहति’—इस श्लोकके पूर्वार्धमें बताये गये दैवयज्ञसे भिन्न दूसरे यज्ञका वर्णन करनेके लिये यहाँ ‘अपरे’ पद आया है।

चेतनका जडसे तादात्म्य होनेके कारण ही उसे जीवात्मा कहते हैं। विवेक-विचारपूर्वक जडसे सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जानेको यहाँ यज्ञ कहा गया है। लीन होनेका तात्पर्य है—परमात्मतत्त्वसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता किंचिन्मात्र न रखना।

व्याख्या—‘श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति’— यहाँ संयमरूप अग्नियोंमें इन्द्रियोंकी आहुति देनेको यज्ञ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि एकान्तकालमें श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों (क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध)—की ओर बिलकुल प्रवृत्त न हों। इन्द्रियाँ संयमरूप ही बन जायँ।

पूरा संयम तभी समझना चाहिये, जब इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहम्—इन सबमेंसे राग-आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाय (गीता—दूसरे अध्यायका अट्टावनवाँ, उन्सठवाँ तथा अड़सठवाँ श्लोक)।

‘शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति’— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं। विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करनेसे वह यज्ञ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारकालमें विषयोंका इन्द्रियोंसे संयोग होते रहनेपर भी इन्द्रियोंमें कोई विकार उत्पन्न न हो (गीता—दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ-पैंसठवाँ श्लोक)।

इन्द्रियाँ राग-द्वेषसे रहित हो जायँ। इन्द्रियोंमें राग-द्वेष उत्पन्न करनेकी शक्ति विषयोंमें रहे ही नहीं।

इस श्लोकमें कहे गये दोनों प्रकारके यज्ञोंमें राग-आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर ही सिद्धि (परमात्म-प्राप्ति) होती है। राग-आसक्तिको मिटानेके लिये ही दो प्रकारकी प्रक्रियाका यज्ञरूपसे वर्णन किया गया है—

पहली प्रक्रियामें साधक एकान्तकालमें इन्द्रियोंका संयम करता है। विवेक-विचार, जप-ध्यान आदिसे इन्द्रियोंका संयम होने लगता है। पूरा संयम होनेपर जब रागका अभाव हो जाता है, तब एकान्तकाल और व्यवहारकाल—दोनोंमें उसकी समान स्थिति रहती है।

दूसरी प्रक्रियामें साधक व्यवहारकालमें राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंसे व्यवहार करते हुए मन, बुद्धि और अहम्से भी राग-द्वेषका अभाव कर देता है। रागका अभाव होनेपर व्यवहारकाल और एकान्तकाल—दोनोंमें उसकी समान स्थिति रहती है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

अपरे	= अन्य (योगीलोग)	प्राणकर्माणि	= प्राणोंकी क्रियाओंको	योग (समाधियोग)–
सर्वाणि	= सम्पूर्ण	ज्ञानदीपिते	= ज्ञानसे प्रकाशित	रूप अग्नियोंमें
इन्द्रियकर्माणि	= इन्द्रियोंकी क्रियाओंको	आत्मसंयम-		जुह्वति = हवन
च	= और	योगाग्नौ	= आत्मसंयम-	किया करते हैं।

व्याख्या—‘सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे’— इस श्लोकमें समाधिको यज्ञका रूप दिया गया है। कुछ योगीलोग दसों इन्द्रियोंकी क्रियाओंका समाधिमें हवन किया करते हैं। तात्पर्य यह है कि समाधि-अवस्थामें मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों—(ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों—) की क्रियाएँ रुक जाती हैं। इन्द्रियाँ सर्वथा निश्चल और शान्त हो जाती हैं।

समाधिरूप यज्ञमें प्राणोंकी क्रियाओंका भी हवन हो जाता है अर्थात् समाधिकालमें प्राणोंकी क्रियाएँ भी रुक जाती हैं। समाधिमें प्राणोंकी गति रोकनेके दो प्रकार हैं—

एक तो हठयोगकी समाधि होती है, जिसमें प्राणोंको रोकनेके लिये कुम्भक किया जाता है। कुम्भकका अभ्यास बढ़ते-बढ़ते प्राण रुक जाते हैं, जो घंटोंतक, दिनोंतक रुके

रह सकते हैं। इस प्राणायामसे आयु बढ़ती है; जैसे—वर्षा होनेपर जल बहने लगता है तो जलके साथ-साथ बालू भी आ जाती है, उस बालूमें मेढक दब जाता है। वर्षा बीतनेपर जब बालू सूख जाती है, तब मेढक उस बालूमें ही चुपचाप सूखे हुएकी तरह पड़ा रहता है, उसके प्राण रुक जाते हैं। पुनः जब वर्षा आती है, तब वर्षाका जल ऊपर गिरनेपर मेढकमें पुनः प्राणोंका संचार होता जाता है और वह टरने लग जाता है।

दूसरे प्रकारमें मनको एकाग्र किया जाता है। मन सर्वथा एकाग्र होनेपर प्राणोंकी गति अपने-आप रुक जाती है।

‘ज्ञानदीपिते’—समाधि और निद्रा—दोनोंमें कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है, इसलिये बाहरसे दोनोंकी समान अवस्था दिखायी देती है। यहाँ ‘ज्ञानदीपिते’ पदसे समाधि

और निद्रामें परस्पर भिन्नता सिद्ध की गयी है। तात्पर्य यह कि बाहरसे समान दिखायी देनेपर भी समाधिकालमें 'एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही सर्वत्र परिपूर्ण है' ऐसा ज्ञान प्रकाशित (जाग्रत्) रहता है और निद्राकालमें वृत्तियाँ अविद्यामें लीन हो जाती हैं। समाधिकालमें प्राणोंकी गति रुक जाती है और निद्राकालमें प्राणोंकी गति चलती रहती है। इसलिये निद्रा आनेसे समाधि नहीं लगती।

'आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति'—चित्तवृत्तिनिरोधरूप अर्थात् समाधिरूप यज्ञ करनेवाले योगीलोग इन्द्रियों तथा प्राणोंकी क्रियाओंका समाधियोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं अर्थात् मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर समाधिमें स्थित हो जाते हैं। समाधि-कालमें सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और प्राण अपनी चंचलता खो देते हैं। एक सच्चिदानन्दघन परमात्माका ज्ञान ही जाग्रत् रहता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा

योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

अपरे	= दूसरे (कितने ही)	करनेवाले हैं	योगयज्ञाः	= योगयज्ञ करनेवाले हैं
संशितव्रताः	= तीक्ष्ण व्रत करनेवाले	तपोयज्ञाः = (और कितने ही) तपोयज्ञ करनेवाले हैं	च	= तथा (कितने ही)
यतयः	= प्रयत्नशील साधक	तथा = और (दूसरे कितने ही)	स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाः	= स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।
द्रव्ययज्ञाः	= द्रव्यमय यज्ञ			

व्याख्या—'यतयः संशितव्रताः'—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (भोग-बुद्धिसे संग्रहका अभाव)—ये पाँच 'यम' हैं*, जिन्हें 'महाव्रत' के नामसे कहा गया है। शास्त्रोंमें इन महाव्रतोंकी बहुत प्रशंसा, महिमा है। इन व्रतोंका सार यही है कि मनुष्य संसारसे विमुख हो जाय। इन व्रतोंका पालन करनेवाले साधकोंके लिये यहाँ 'संशितव्रताः' पद आया है। इसके सिवाय इस श्लोकमें आये चारों यज्ञोंमें जो-जो पालनीय व्रत अर्थात् नियम हैं, उनपर दृढ़ रहकर उनका पालन करनेवाले भी सब 'संशितव्रताः' हैं। अपने-अपने यज्ञके अनुष्ठानमें प्रयत्नशील होनेके कारण उन्हें 'यतयः' कहा गया है।

'संशितव्रताः' पदके साथ ('द्रव्ययज्ञाः', 'तपोयज्ञाः', 'योगयज्ञाः' और 'ज्ञानयज्ञाः' की तरह) 'यज्ञाः' पद नहीं दिया जानेके कारण इसे अलग यज्ञ नहीं माना गया है।

'द्रव्ययज्ञाः'—मात्र संसारके हितके उद्देश्यसे कुआँ, तालाब, मन्दिर, धर्मशाला आदि बनवाना, अभावग्रस्त लोगोंको अन्न, जल, वस्त्र, औषध, पुस्तक आदि देना, दान करना इत्यादि सब 'द्रव्ययज्ञ' है। द्रव्य-(तीनों शरीरोंसहित सम्पूर्ण पदार्थों-) को अपना और अपने लिये न मानकर निःस्वार्थभावसे उन्हींका मानकर उनकी सेवामें

लगानेसे द्रव्ययज्ञ सिद्ध हो जाता है।

शरीरादि जितनी वस्तुएँ हमारे पास हैं, उन्हींसे यज्ञ हो सकता है, अधिककी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य बालकसे उतनी ही आशा रखता है, जितना वह कर सकता है, फिर सर्वज्ञ भगवान् तथा संसार हमसे हमारी क्षमतासे अधिककी आशा कैसे रखेंगे ?

'तपोयज्ञाः'—अपने कर्तव्य-(स्वधर्म-) के पालनमें जो-जो प्रतिकूलताएँ, कठिनाइयाँ आयें, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सह लेना 'तपोयज्ञ' है। लोकहितार्थ एकादशी आदिका व्रत रखना, मौन धारण करना आदि भी 'तपोयज्ञ' अर्थात् तपस्वरूप यज्ञ हैं। परन्तु प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति, घटना आनेपर भी साधक प्रसन्नतापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करता रहे—अपने कर्तव्यसे थोड़ा भी विचलित न हो तो यह सबसे बड़ी तपस्या है, जो शीघ्र सिद्धि देनेवाली होती है।

गाँवभरकी गन्दगी, कूड़ा-करकट बाहर एक जगह इकट्ठा हो जाय, तो वह बुरा लगता है; परन्तु वही कूड़ा-करकट खेतमें पड़ जाय, तो खेतीके लिये खादरूपसे बढ़िया सामग्री बन जाता है। इसी प्रकार प्रतिकूलता बुरी लगती है और उसे हम कूड़े-करकटकी तरह फेंक देते हैं अर्थात् उसे महत्त्व नहीं देते; परन्तु वही प्रतिकूलता अपना

कर्तव्य-पालन करनेके लिये बढ़िया सामग्री है। इसलिये प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष सहनेके समान दूसरा कोई तप नहीं है। भोगोंमें आसक्ति रहनेसे अनुकूलता अच्छी और प्रतिकूलता बुरी लगती है। इसी कारण प्रतिकूलताका महत्त्व समझमें नहीं आता।

‘योगयज्ञास्तथापरे’—यहाँ योग नाम अन्तःकरणकी समताका है। समताका अर्थ है—कार्यकी पूर्ति और अपूर्तिमें, फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिमें, निन्दा और स्तुतिमें, आदर और निरादरमें सम रहना अर्थात् अन्तःकरणमें हलचल, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःखका न होना। इस तरह सम रहना ही ‘योगयज्ञ’ है।

‘स्वाध्यायज्ञानयज्ञः’—केवल लोकहितके लिये गीता, रामायण, भागवत आदिका तथा वेद, उपनिषद् आदिका यथाधिकार मनन-विचारपूर्वक पठन-पाठन करना, अपनी वृत्तियोंका तथा जीवनका अध्ययन करना आदि सब स्वाध्यायरूप ‘ज्ञानयज्ञ’ है।

गीताके अन्तमें भगवान्ने कहा है कि जो इस गीता-शास्त्रका अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है (अठारहवें अध्यायका सत्तरवाँ श्लोक)। तात्पर्य यह है कि गीताका स्वाध्याय ‘ज्ञानयज्ञ’ है। गीताके भावोंमें गहरे उतरकर विचार करना, उसके भावोंको समझनेकी चेष्टा करना आदि सब स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणायामगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अपरे	= दूसरे (कितने ही)	रुद्ध्वा	= रोककर (कुम्भक करके)	प्राणान्	= प्राणोंका
प्राणायाम-	= प्राणायामके	प्राणे	= (फिर) प्राणमें	प्राणेषु	= प्राणोंमें
परायणाः	परायण हुए (योगीलोग)	अपानम्	= अपानका	जुह्वति	= हवन किया करते हैं।
अपाने	= अपानमें	जुह्वति	= हवन (रेचक) करते हैं;	एते	= ये
प्राणम्	= प्राणका (पूरक करके)	तथा	= तथा	सर्वे, अपि	= सभी (साधक)
प्राणायामगती	= प्राण और अपानकी गति	अपरे	= अन्य (कितने ही)	यज्ञक्षपित-	= यज्ञों द्वारा पापोंका नाश करनेवाले (और)
		नियताहाराः	= नियमित आहार करनेवाले	कल्मषाः	
				यज्ञविदः	= यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

व्याख्या—‘अपाने जुह्वति’.....‘प्राणायाम-परायणाः’^१—प्राणका स्थान हृदय (ऊपर) तथा अपानका स्थान गुदा (नीचे) है^२। श्वासको बाहर निकालते समय वायुकी गति ऊपरकी ओर तथा श्वासको भीतर ले जाते समय वायुकी गति नीचेकी ओर होती है। इसलिये श्वासको बाहर निकालना ‘प्राण’ का कार्य और श्वासको भीतर ले जाना ‘अपान’ का कार्य है। योगीलोग पहले

बाहरकी वायुको बायीं नासिका-(चन्द्रनाड़ी-) के द्वारा भीतर ले जाते हैं। वह वायु हृदयमें स्थित प्राणवायुको साथ लेकर नाभिसे होती हुई स्वाभाविक ही अपानमें लीन हो जाती है। इसको ‘पूरक’ कहते हैं। फिर वे प्राणवायु और अपानवायु—दोनोंकी गति रोक देते हैं। न तो श्वास बाहर जाता है और न श्वास भीतर ही आता है। इसको ‘कुम्भक’ कहते हैं। इसके बाद वे भीतरकी वायुको दायीं नासिका-

१-इस (उनतीसवें) श्लोकमें ‘अपरे’ कर्ता और ‘जुह्वति’ क्रिया एक ही आयी है; अतः यहाँ पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक क्रिया जानेवाला एक ही प्राणायामरूप यज्ञ लिया गया है।

२-हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले। (योगचूड़ामण्युपनिषद् २३)

(सूर्यनाड़ी-) के द्वारा बाहर निकालते हैं। वह वायु स्वाभाविक ही प्राणवायुको तथा उसके पीछे-पीछे अपानवायुको साथ लेकर बाहर निकलती है। यही प्राण-वायुमें अपानवायुका हवन करना है। इसको 'रेचक' कहते हैं। चार भगवन्नामसे पूरक, सोलह भगवन्नामसे कुम्भक और आठ भगवन्नामसे रेचक किया जाता है।

इस प्रकार योगीलोग पहले चन्द्रनाड़ीसे पूरक, फिर कुम्भक और फिर सूर्यनाड़ीसे रेचक करते हैं। इसके बाद सूर्यनाड़ीसे पूरक, फिर कुम्भक और फिर चन्द्रनाड़ीसे रेचक करते हैं। इस तरह बार-बार पूरक-कुम्भक-रेचक करना प्राणायामरूप यज्ञ है। परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक प्राणायामके परायण होनेसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं*।

'अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति'— नियमित आहार-विहार करनेवाले साधक ही प्राणोंका प्राणोंमें हवन कर सकते हैं। अधिक या बहुत कम भोजन करनेवाला अथवा बिलकुल भोजन न करनेवाला यह प्राणायाम नहीं कर सकता (गीता—छठे अध्यायका सोलहवाँ-सत्रहवाँ श्लोक)।

प्राणोंका प्राणोंमें हवन करनेका तात्पर्य है—प्राणका प्राणमें और अपानका अपानमें हवन करना अर्थात् प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना। न श्वास बाहर निकालना और न श्वास भीतर लेना। इसे 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' भी कहते हैं। इस प्राणायामसे स्वाभाविक ही वृत्तियाँ शान्त होती हैं और पापोंका नाश हो जाता है। केवल परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य रखकर प्राणायाम करनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और परमात्मप्राप्ति हो जाती है।

'सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः'— चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकके पूर्वार्धतक जिन यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उनका अनुष्ठान करनेवाले साधकोंके लिये यहाँ 'सर्वेऽप्येते' पद आया है। उन यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहनेसे उनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

वास्तवमें सम्पूर्ण यज्ञ केवल कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये ही है—ऐसा जाननेवाले ही 'यज्ञवित्' अर्थात् यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले हैं। कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर परमात्माका अनुभव हो जाता है। जो लोग अविनाशी परमात्माका अनुभव करनेके लिये यज्ञ नहीं

करते, प्रत्युत इस लोक और परलोक (स्वर्गादि)-के विनाशी भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही यज्ञ करते हैं, वे यज्ञके तत्त्वको जाननेवाले नहीं हैं। कारण कि विनाशी पदार्थोंकी कामना ही बन्धनका कारण है—'गतागतं कामकामा लभन्ते' (गीता ९। २१)। अतः मनमें कामना-वासना रखकर परिश्रमपूर्वक बड़े-बड़े यज्ञ करनेपर भी जन्म-मरणका बन्धन बना रहता है—

मिटी न मनकी वासना, नौ तत भये न नास।

तुलसी केते पच मुये, दे दे तन को त्रास॥

विशेष बात

यज्ञ करते समय अग्निमें आहुति दी जाती है। आहुति दी जानेवाली वस्तुओंके रूप पहले अलग-अलग होते हैं; परन्तु अग्निमें आहुति देनेके बाद उनके रूप अलग-अलग नहीं रहते, अपितु सभी वस्तुएँ अग्निरूप हो जाती हैं। इसी प्रकार परमात्मप्राप्तिके लिये जिन साधनोंका यज्ञरूपसे वर्णन किया गया है, उनमें आहुति देनेका तात्पर्य यही है कि आहुति दी जानेवाली वस्तुओंकी अलग सत्ता रहे ही नहीं, सब स्वाहा हो जायँ। जबतक उनकी अलग सत्ता बनी हुई है, तबतक वास्तवमें उनकी आहुति दी ही नहीं गयी अर्थात् यज्ञका अनुष्ठान हुआ ही नहीं।

इसी अध्यायके सोलहवें श्लोकसे भगवान् कर्मोंके तत्त्व (कर्ममें अकर्म) का वर्णन कर रहे हैं। कर्मोंका तत्त्व है— कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधना। कर्मोंसे न बँधनेका ही एक साधन है—यज्ञ। जैसे अग्निमें डालनेपर सब वस्तुएँ स्वाहा हो जाती हैं, ऐसे ही केवल लोकहितके लिये किये जानेवाले सब कर्म स्वाहा हो जाते हैं— 'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (गीता ४। २३)।

निष्कामभावपूर्वक केवल लोकहितार्थ किये गये साधारण-से-साधारण कर्म भी परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हो जाते हैं। परन्तु सकामभावपूर्वक किये गये बड़े-से-बड़े कर्मोंसे भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। कारण कि उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंकी कामना ही बाँधनेवाली है। पदार्थ और क्रियारूप संसारसे अपना सम्बन्ध माननेके कारण मनुष्यमात्रमें पदार्थ पाने और कर्म करनेका राग रहता है कि मुझे कुछ-न-कुछ मिलता रहे और मैं कुछ-न-कुछ करता रहूँ। इसीको 'पानेकी कामना' तथा 'करनेका वेग' कहते हैं।

मनुष्यमें जो पानेकी कामना रहती है, वह वास्तवमें

* गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च। नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥

अपने अंशी परमात्माको ही पानेकी भूख है; परन्तु परमात्मासे विमुख और संसारके सम्मुख होनेके कारण मनुष्य इस भूखको सांसारिक पदार्थोंसे ही मिटाना चाहता है। सांसारिक पदार्थ विनाशी हैं और जीव अविनाशी है। अविनाशीकी भूख विनाशी पदार्थोंसे मिट ही कैसे सकती है? परन्तु जबतक संसारकी सम्मुखता रहती है, तबतक पानेकी कामना बनी रहती है। जबतक मनुष्यमें पानेकी कामना रहती है, तबतक उसमें करनेका वेग बना रहता है। इस प्रकार जबतक पानेकी कामना और करनेका वेग बना हुआ है अर्थात् पदार्थ और क्रियासे सम्बन्ध बना हुआ

है, तबतक जन्म-मरण नहीं छूटता। इससे छूटनेका उपाय है—कुछ भी पानेकी कामना न रखकर केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करना। इसीको लोकसंग्रह, यज्ञार्थ कर्म, लोकहितार्थ कर्म आदि नामोंसे कहा गया है।

केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे संसारसे सम्बन्ध छूट जाता है और असंगता आ जाती है। अगर केवल भगवान्के लिये कर्म किये जायँ, तो संसारसे सम्बन्ध छूटकर असंगता तो आ ही जाती है, इसके साथ एक और विलक्षण बात यह होती है कि भगवान्का 'प्रेम' प्राप्त हो जाता है!

परिशिष्ट भाव—निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्यकर्म करनेका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञसे सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बाँधनेवाले नहीं होते। चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक कुल बारह प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) **ब्रह्मयज्ञ**—प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण क्रिया, पदार्थ आदि सबको ब्रह्मरूपसे अनुभव करना।

(२) **भगवदर्पणरूप यज्ञ**—सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको केवल भगवान्का और भगवान्के लिये ही मानना।

(३) **अभिन्नतारूप यज्ञ**—असत्से सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जाना अर्थात् परमात्मासे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखना।

[**कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ**—केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म करना।]

(४) **संयमरूप यज्ञ**—एकान्तकालमें अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न होने देना।

(५) **विषय-हवनरूप यज्ञ**—व्यवहारकालमें इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होनेपर भी उनमें राग-द्वेष पैदा न होने देना (गीता—दूसरे अध्यायका चौंसठवाँ-पैंसठवाँ श्लोक)।

(६) **समाधिरूप यज्ञ**—मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर ज्ञानसे प्रकाशित समाधिमें स्थित हो जाना।

(७) **द्रव्ययज्ञ**—सम्पूर्ण पदार्थोंको निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवामें लगा देना।

(८) **तपोयज्ञ**—अपने कर्तव्यके पालनमें आनेवाली कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सह लेना।

(९) **योगयज्ञ**—कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें तथा फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना।

(१०) **स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ**—दूसरोंके हितके लिये सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन, नाम-जप आदि करना।

(११) **प्राणायामरूप यज्ञ**—पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक प्राणायाम करना।

(१२) **स्तम्भवृत्ति (चतुर्थ) प्राणायामरूप यज्ञ**—नियमित आहार करते हुए प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना।

—इन सबका तात्पर्य है कि हमारी मात्र क्रियाएँ यज्ञरूप ही होनी चाहिये, तभी जीवन सफल होगा। तात्पर्य है कि हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है। क्रिया और पदार्थके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो क्रिया और पदार्थसे रहित हैं।

सम्बन्ध—चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकके पूर्वार्धतक भगवान्ने कुल बारह प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया और तीसवें श्लोकके उत्तरार्धमें यज्ञ करनेवाले साधकोंकी प्रशंसा की। अब भगवान् आगेके श्लोकमें यज्ञ करनेसे होनेवाले लाभ और न करनेसे होनेवाली हानि बताते हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

कुरुसत्तम	= हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	ब्रह्म	= परब्रह्म परमात्माको	लोकः	= मनुष्यलोक (भी)
यज्ञशिष्टा-	= यज्ञसे बचे हुए	यान्ति	= प्राप्त होते हैं।	न	= (सुखदायक) नहीं
मृतभुजः	अमृतका अनुभव करनेवाले	अयज्ञस्य	= यज्ञ न करनेवाले मनुष्यके लिये	अस्ति	= है,
सनातनम्	= सनातन	अयम्	= यह	अन्यः	= (फिर) परलोक
				कुतः	= कैसे (सुखदायक होगा) ?

व्याख्या—‘यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्’— यज्ञ करनेसे अर्थात् निष्कामभावपूर्वक दूसरोंको सुख पहुँचानेसे समताका अनुभव हो जाना ही ‘यज्ञशिष्ट अमृत’का अनुभव करना है। अमृत अर्थात् अमरताका अनुभव करनेवाले सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)।

स्वरूपसे मनुष्य अमर है। मरनेवाली वस्तुओंके संगसे ही मनुष्यको मृत्युका अनुभव होता है। इन वस्तुओंको संसारके हितमें लगानेसे जब मनुष्य असंग हो जाता है, तब उसे स्वतःसिद्ध अमरताका अनुभव हो जाता है।

कर्तव्यमात्र केवल कर्तव्य समझकर किया जाय, तो वह यज्ञ हो जाता है। केवल दूसरोंके हितके लिये किया जानेवाला कर्म ही कर्तव्य होता है। जो कर्म अपने लिये किया जाता है, वह कर्तव्य नहीं होता, प्रत्युत कर्ममात्र होता है, जिससे मनुष्य बँधता है। इसलिये यज्ञमें देना-ही-देना होता है, लेना केवल निर्वाहमात्रके लिये होता है (गीता—चौथे अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। शरीर यज्ञ करनेके लिये समर्थ रहे—इस दृष्टिसे शरीर-निर्वाहमात्रके लिये वस्तुओंका उपयोग करना भी यज्ञके अन्तर्गत है। मनुष्य-शरीर यज्ञके लिये ही है। उसे मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिमें लगाना बन्धनकारक है। केवल यज्ञके लिये कर्म करनेसे मनुष्य बन्धनरहित (मुक्त) हो जाता है और उसे

सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

‘नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम’— जैसे तीसरे अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा, ऐसे ही यहाँ कहते हैं कि यज्ञ न करनेसे तेरा यह लोक भी लाभदायक नहीं रहेगा, फिर परलोकका तो कहना ही क्या है! केवल स्वार्थभावसे (अपने लिये) कर्म करनेसे इस लोकमें संघर्ष उत्पन्न हो जायगा और सुख-शान्ति भंग हो जायगी तथा परलोकमें कल्याण भी नहीं होगा।

अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे घरमें भी भेद और संघर्ष पैदा हो जाता है, खटपट मच जाती है। घरमें कोई स्वार्थी, पेटू व्यक्ति हो, तो घरवालोंको उसका रहना सुहाता नहीं। स्वार्थत्यागपूर्वक अपने कर्तव्यसे सबको सुख पहुँचाना घरमें अथवा संसारमें रहनेकी विद्या है। अपने कर्तव्यका पालन करनेसे दूसरोंको भी कर्तव्य-पालनकी प्रेरणा मिलती है। इससे घरमें एकता और शान्ति स्वाभाविक आ जाती है। परन्तु अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे इस लोकमें सुखपूर्वक जीना भी कठिन हो जाता है और अन्य लोकोंकी तो बात ही क्या है! इसके विपरीत अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे यह लोक भी सुखदायक हो जाता है और परलोक भी।

सम्बन्ध—इसी अध्यायके सोलहवें श्लोकमें भगवान्ने कर्मोंका तत्त्व बतानेकी प्रतिज्ञा की थी। उसका विस्तारसे वर्णन करके अब भगवान् उसका उपसंहार करते हैं।

**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानिवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥**

एवम्	= इस प्रकार (और भी)	वितताः	= विस्तारसे कहे गये हैं।	विद्धि	= जान।
बहुविधाः	= बहुत तरहके	तान्	= उन	एवम्	= इस प्रकार
यज्ञाः	= यज्ञ	सर्वान्	= सब यज्ञोंको (तू)	ज्ञात्वा	= जानकर (यज्ञ करनेसे)
ब्रह्मणः	= वेदकी	कर्मजान्	= कर्मजन्य	विमोक्ष्यसे	= (तू कर्मबन्धनसे) मुक्त हो जायगा।
मुखे	= वाणीमें				

व्याख्या—‘एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे’—चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक जिन बारह यज्ञोंका वर्णन किया गया है, उनके सिवाय और भी अनेक प्रकारके यज्ञोंका वेदकी वाणीमें विस्तारसे वर्णन किया गया है। कारण कि साधकोंकी प्रकृतिके अनुसार उनकी निष्ठाएँ भी अलग-अलग होती हैं और तदनुसार उनके साधन भी अलग-अलग होते हैं।

वेदोंमें सकाम अनुष्ठानोंका भी विस्तारसे वर्णन किया गया है। परन्तु उन सबसे नाशवान् फलकी ही प्राप्ति होती है, अविनाशीकी नहीं। इसलिये वेदोंमें वर्णित सकाम अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य स्वर्गलोकको जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार वे जन्म-मरणके बन्धनमें पड़े रहते हैं (गीता—नवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। परन्तु यहाँ उन सकाम अनुष्ठानोंकी बात नहीं कही गयी है। यहाँ निष्कामकर्मरूप उन यज्ञोंकी बात कही गयी है, जिनके अनुष्ठानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है—‘यान्ति ब्रह्म सनातनम्’ (गीता ४। ३१)।

वेदोंमें केवल स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप सकाम अनुष्ठानोंका ही वर्णन हो, ऐसी बात नहीं है। उनमें परमात्मप्राप्तिके साधनरूप श्रवण, मनन, निदिध्यासन, प्राणायाम, समाधि आदि अनुष्ठानोंका भी वर्णन हुआ है। उपर्युक्त पदोंमें उन्हींका लक्ष्य है।

तीसरे अध्यायके चौदहवें-पंद्रहवें श्लोकोंमें कहा गया है कि यज्ञ वेदसे उत्पन्न हुए हैं और सर्वव्यापी परमात्मा उन यज्ञोंमें नित्य प्रतिष्ठित (विराजमान) हैं। यज्ञोंमें परमात्मा नित्य प्रतिष्ठित रहनेसे उन यज्ञोंका अनुष्ठान केवल परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये।

‘कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्’—चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक जिन बारह यज्ञोंका वर्णन हुआ है तथा उसी प्रकार वेदोंमें जिन यज्ञोंका वर्णन हुआ है, उन सब यज्ञोंके लिये यहाँ ‘तान् सर्वान्’ पद आये हैं।

‘कर्मजान् विद्धि’ पदोंका तात्पर्य है कि वे सब-के-सब यज्ञ कर्मजन्य हैं अर्थात् कर्मोंसे होनेवाले हैं। शरीरसे जो क्रियाएँ होती हैं, वाणीसे जो कथन होता है और मनसे जो संकल्प होते हैं, वे सभी कर्म कहलाते हैं—‘शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः’ (गीता १८। १५)।

अर्जुन अपना कल्याण तो चाहते हैं, पर युद्धरूप

कर्तव्य-कर्मको पाप मानकर उसका त्याग करना चाहते हैं। इसलिये ‘कर्मजान् विद्धि’ पदोंसे भगवान् अर्जुनके प्रति ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं कि युद्धरूप कर्तव्यकर्मका त्याग करके अपने कल्याणके लिये तू जो साधन करेगा, वह भी तो कर्म ही होगा। वास्तवमें कल्याण कर्मसे नहीं होता, प्रत्युत कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे होता है। इसलिये यदि तू युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको भी निर्लिप्त रहकर करेगा, तो उससे भी तेरा कल्याण हो जायगा; क्योंकि मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत (कर्मकी और उसके फलकी) आसक्ति ही बाँधती है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)। युद्ध तो तेरा सहज कर्म (स्वधर्म) है, इसलिये उसे करना तेरे लिये सुगम भी है।

‘एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे’—भगवान्ने इसी अध्यायके चौदहवें श्लोकमें बताया कि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म नहीं बाँधते—इस प्रकार जो मुझे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बाँधता। तात्पर्य यह है कि जिसने कर्म करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहनेकी विद्या (—कर्मफलमें स्पृहा न रखना)—को सीखकर उसका अनुभव कर लिया है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। फिर पंद्रहवें श्लोकमें भगवान्ने इसी बातको ‘एवं ज्ञात्वा’ पदोंसे कहा। वहाँ भी यही भाव है कि मुमुक्षु पुरुष भी इसी प्रकार जानकर कर्म करते आये हैं। सोलहवें श्लोकमें कर्मोंसे निर्लिप्त रहनेके इसी तत्त्वको विस्तारसे कहनेके लिये भगवान्ने प्रतिज्ञा की और ‘यज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्’ पदोंसे उसे जाननेका फल मुक्त होना बताया। अब इस श्लोकमें ‘एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे’ पदोंसे ही उस विषयका उपसंहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि फलकी इच्छाका त्याग करके केवल लोकहितार्थ कर्म करनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

संसारमें असंख्य क्रियाएँ होती रहती हैं; परन्तु जिन क्रियाओंसे मनुष्य अपना सम्बन्ध जोड़ता है, उन्हींसे वह बाँधता है। संसारमें कहीं भी कोई क्रिया (घटना) हो, जब मनुष्य उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है—उसमें राजी या नाराज होता है, तब वह उस क्रियासे बाँध जाता है। जब शरीर या संसारमें होनेवाली किसी भी क्रियासे मनुष्यका सम्बन्ध नहीं रहता, तब वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

सम्बन्ध—यज्ञोंका वर्णन सुनकर ऐसी जिज्ञासा होती है कि उन यज्ञोंमेंसे कौन-सा यज्ञ श्रेष्ठ है? इसका समाधान भगवान् आगेके श्लोकमें करते हैं।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परन्तप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

परन्तप, पार्थ	= हे परन्तप अर्जुन !	श्रेयान्	= श्रेष्ठ है ।	ज्ञाने	= ज्ञान (तत्त्वज्ञान)-में
द्रव्यमयात्	= द्रव्यमय	सर्वम्	= सम्पूर्ण	परिसमाप्यते	= समाप्त (लीन) हो
यज्ञात्	= यज्ञसे	कर्म	= कर्म (और)		जाते हैं ।
ज्ञानयज्ञः	= ज्ञानयज्ञ	अखिलम्	= पदार्थ		

व्याख्या—‘श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परन्तप’—
जिन यज्ञोंमें द्रव्यों (पदार्थों) तथा कर्मोंकी आवश्यकता होती है, वे सब यज्ञ ‘द्रव्यमय’ होते हैं। ‘द्रव्य’ शब्दके साथ ‘मय’ प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें है। जैसे मिट्टीकी प्रधानतावाला पात्र ‘मृन्मय’ कहलाता है, ऐसे ही द्रव्यकी प्रधानतावाला यज्ञ ‘द्रव्यमय’ कहलाता है। ऐसे द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानयज्ञमें द्रव्य और कर्मकी आवश्यकता नहीं होती।

सभी यज्ञोंको भगवान्ने कर्मजन्य कहा है (चौथे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। यहाँ भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म ज्ञानयज्ञमें परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानयज्ञ कर्मजन्य नहीं है, प्रत्युत विवेक-विचारजन्य है। अतः यहाँ जिस ज्ञानयज्ञकी बात आयी है, वह पूर्ववर्णित बारह यज्ञोंके अन्तर्गत आये ज्ञानयज्ञ (चौथे अध्यायका अट्ठाईसवाँ श्लोक)-का वाचक नहीं है, प्रत्युत आगेके (चौतीसवें) श्लोकमें वर्णित ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रक्रियाका वाचक है। पूर्ववर्णित बारह यज्ञोंका वाचक यहाँ ‘द्रव्यमय यज्ञ’ है। द्रव्यमय यज्ञ समाप्त करके ही ज्ञानयज्ञ किया जाता है।

अगर सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञानयज्ञ भी क्रियाजन्य ही है, परन्तु इसमें विवेक-विचारकी प्रधानता रहती है।

‘सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते’—‘सर्वम्’ और ‘अखिलम्’—दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और उनका अर्थ ‘सम्पूर्ण’ होता है। इसलिये यहाँ ‘सर्वम् कर्म’ का अर्थ सम्पूर्ण कर्म (मात्र कर्म) और ‘अखिलम्’ का अर्थ सम्पूर्ण द्रव्य (मात्र पदार्थ) लेना ही ठीक मालूम देता है।

जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसका सम्बन्ध क्रियाओं और पदार्थोंसे बना रहता है। जबतक क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध रहता है, तभीतक अन्तःकरणमें अशुद्धि रहती है, इसलिये अपने लिये कर्म न करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होता है।

अन्तःकरणमें तीन दोष रहते हैं—मल (संचित पाप),

विक्षेप (चित्तकी चंचलता) और आवरण (अज्ञान)। अपने लिये कोई भी कर्म न करनेसे अर्थात् संसारमात्रकी सेवाके लिये ही कर्म करनेसे जब साधकके अन्तःकरणमें स्थित मल और विक्षेप—दोनों दोष मिट जाते हैं, तब वह ज्ञानप्राप्तिके द्वारा आवरण-दोषको मिटानेके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके गुरुके पास जाता है। उस समय वह कर्मों और पदार्थोंसे ऊँचा उठ जाता है अर्थात् कर्म और पदार्थ उसके लक्ष्य नहीं रहते, प्रत्युत एक चिन्मय तत्त्व ही उसका लक्ष्य रहता है। यही सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंका तत्त्वज्ञानमें समाप्त होना है।

ज्ञानप्राप्तिकी प्रचलित प्रक्रिया

शास्त्रोंमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अन्तरंग साधन कहे गये हैं—(१) विवेक, (२) वैराग्य, (३) शमादि षट्सम्पत्ति (शम, दम, श्रद्धा, उपरति, तितिक्षा और समाधान), (४) मुमुक्षुता, (५) श्रवण, (६) मनन, (७) निदिध्यासन और (८) तत्त्वपदार्थसंशोधन। इनमें पहला साधन विवेक है। सत् और असत्को अलग-अलग जानना ‘विवेक’ कहलाता है। सत्-असत्को अलग-अलग जानकर असत्का त्याग करना अथवा संसारसे विमुख होना ‘वैराग्य’ है। इसके बाद शमादि षट्सम्पत्ति आती है। मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाना ‘शम’ है। इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाना ‘दम’ है। ईश्वर, शास्त्र आदिपर पूज्यभावपूर्वक प्रत्यक्षसे भी अधिक विश्वास करना ‘श्रद्धा’ है। वृत्तियोंका संसारकी ओरसे हट जाना ‘उपरति’ है। सरदी-गरमी आदि द्वन्द्वोंको सहना, उनकी उपेक्षा करना ‘तितिक्षा’ है। अन्तःकरणमें शंकाओंका न रहना ‘समाधान’ है। इसके बाद चौथा साधन है—मुमुक्षुता। संसारसे छूटनेकी इच्छा ‘मुमुक्षुता’ है।

मुमुक्षुता जाग्रत् होनेके बाद साधक पदार्थों और कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाता है। गुरुके पास निवास करते हुए शास्त्रोंको सुनकर तात्पर्यका निर्णय करना तथा उसे धारण करना ‘श्रवण’ है। श्रवणसे

प्रमाणगत संशय दूर होता है। परमात्मतत्त्वका युक्ति-प्रयुक्तियोंसे चिन्तन करना 'मनन' है। मननसे प्रमेयगत संशय दूर होता है। संसारकी सत्ताको मानना और परमात्म-तत्त्वकी सत्ताको न मानना 'विपरीत भावना' कहलाती है। विपरीत भावनाको हटाना 'निदिध्यासन' है। प्राकृत पदार्थमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय और केवल एक

चिन्मयतत्त्व शेष रह जाय—यह 'तत्त्वपदार्थसंशोधन' है। इसे ही तत्त्व-साक्षात्कार कहते हैं*।

विचारपूर्वक देखा जाय तो इन सब साधनोंका तात्पर्य है—असाधन अर्थात् असत्के सम्बन्धका त्याग। त्याज्य वस्तु अपने लिये नहीं होती, पर त्यागका परिणाम (तत्त्वसाक्षात्कार) अपने लिये होता है।

परिशिष्ट भाव—द्रव्यमय यज्ञमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है; अतः वह करणसापेक्ष है। ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता है; अतः वह करणनिरपेक्ष है। इसलिये द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता; क्योंकि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य सत्ता ही नहीं रहती।

सम्बन्ध—अर्जुन अपना कल्याण चाहते हैं; अतः कल्याणप्राप्तिके विभिन्न साधनोंका यज्ञरूपसे वर्णन करके अब भगवान् ज्ञानयज्ञके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीका वर्णन करते हैं।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तत्	= उस (तत्त्वज्ञान) को	करनेसे,	तत्त्वदर्शिनः	= तत्त्वदर्शी (अनुभवी)	
विद्धि	= (तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर) समझ	सेवया	= (उनकी) सेवा करनेसे (और)	ज्ञानिनः	= ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष
प्रणिपातेन	= (उनको) साष्टांग दण्डवत् प्रणाम	परिप्रश्नेन	= सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे	ज्ञानम्	= (तुझे उस) तत्त्वज्ञानका
		ते	= वे	उपदेक्ष्यन्ति	= उपदेश देंगे।

व्याख्या—'तद्विद्धि'—अर्जुनने पहले कहा था कि युद्धमें स्वजनोंको मारकर मैं हित नहीं देखता (गीता—पहले अध्यायका इकतीसवाँ श्लोक); इन आततायियोंको मारनेसे तो पाप ही लगेगा (गीता—पहले अध्यायका छत्तीसवाँ श्लोक)। युद्ध करनेकी अपेक्षा मैं भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करना श्रेष्ठ समझता हूँ (गीता—दूसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक)। इस तरह अर्जुन युद्धरूप कर्तव्य-कर्मका त्याग करना श्रेष्ठ मानते हैं; परन्तु भगवान्के मतानुसार ज्ञानप्राप्तिके लिये कर्मोंका त्याग करना आवश्यक नहीं है (गीता—तीसरे अध्यायका बीसवाँ और चौथे अध्यायका पंद्रहवाँ श्लोक)। इसीलिये यहाँ भगवान् अर्जुनसे मानो यह कह रहे हैं कि अगर तू कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके ज्ञान प्राप्त करनेको ही श्रेष्ठ मानता है, तो तू किसी तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषके पास

ही जाकर विधिपूर्वक ज्ञानको प्राप्त कर; मैं तुझे ऐसा उपदेश नहीं दूँगा।

वास्तवमें यहाँ भगवान्का अभिप्राय अर्जुनको ज्ञानी महापुरुषके पास भेजनेका नहीं, प्रत्युत उन्हें चेतानेका प्रतीत होता है। जैसे कोई महापुरुष किसीको उसके कल्याणकी बात कह रहा है, पर श्रद्धाकी कमीके कारण सुननेवालेको वह बात नहीं जँचती, तो वह महापुरुष उसे कह देता है कि तू किसी दूसरे महापुरुषके पास जाकर अपने कल्याणका उपाय पूछ; ऐसे ही भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि अगर तुझे मेरी बात नहीं जँचती, तो तू किसी ज्ञानी महापुरुषके पास जाकर प्रचलित प्रणालीसे ज्ञान प्राप्त कर। ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणाली है—कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके, जिज्ञासापूर्वक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास

* जो सांसारिक भोग और संग्रहमें लगे हुए हैं, ऐसे मनुष्योंके द्वारा 'श्रवण' होता है शास्त्रोंका, 'मनन' होता है विषयोंका, 'निदिध्यासन' होता है रूपयोंका और 'साक्षात्कार' होता है दुःखोंका!

जाकर विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना।

आगे चलकर भगवान्ने अड़तीसवें श्लोकमें कहा है कि यही तत्त्वज्ञान तुझे अपना कर्तव्य-कर्म करते-करते (कर्मयोग सिद्ध होते ही) दूसरे किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें प्राप्त हो जायगा। उसके लिये किसी दूसरेके पास जानेकी जरूरत नहीं है।

‘प्रणिपातेन’—ज्ञान-प्राप्तिके लिये गुरुके पास जाकर उन्हें साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करे। तात्पर्य यह कि गुरुके पास नीच पुरुषकी तरह रहे—‘नीचवत् सेवेत सद्गुरुम्’, जिससे अपने शरीरसे गुरुका कभी निरादर, तिरस्कार न हो जाय। नम्रता, सरलता और जिज्ञासुभावसे उनके पास रहे और उनकी सेवा करे। अपने-आपको उनके समर्पित कर दे; उनके अधीन हो जाय। शरीर और वस्तुएँ—दोनों उनके अर्पण कर दे। साष्टांग दण्डवत्-प्रणामसे अपना शरीर और सेवासे अपनी वस्तुएँ उनके अर्पण कर दे।

‘सेवया’—शरीर और वस्तुओंसे गुरुकी सेवा करे। जिससे वे प्रसन्न हों, वैसा काम करे। उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी हो तो अपने-आपको सर्वथा उनके अधीन कर दे। उनके मनके, संकेतके, आज्ञाके अनुकूल काम करे। यही वास्तविक सेवा है।

सन्त-महापुरुषकी सबसे बड़ी सेवा है—उनके सिद्धान्तोंके अनुसार अपना जीवन बनाना। कारण कि उन्हें सिद्धान्त जितने प्रिय होते हैं, उतना अपना शरीर प्रिय नहीं होता। सिद्धान्तकी रक्षाके लिये वे अपने शरीरतकका सहर्ष त्याग कर देते हैं। इसलिये सच्चा सेवक उनके सिद्धान्तोंका दृढ़तापूर्वक पालन करता है।

‘परिप्रश्नेन’—केवल परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये, जिज्ञासुभावसे सरलता और विनम्रतापूर्वक गुरुसे प्रश्न करे। अपनी विद्वत्ता दिखानेके लिये अथवा उनकी परीक्षा करनेके लिये प्रश्न न करे।

मैं कौन हूँ? संसार क्या है? बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? परमात्मतत्त्वका अनुभव कैसे हो सकता है? मेरे साधनमें क्या-क्या बाधाएँ हैं? उन बाधाओंको कैसे दूर किया जाय? तत्त्व समझमें क्यों नहीं आ रहा है? आदि-आदि प्रश्न केवल अपने बोधके लिये (जैसे-जैसे जिज्ञासा हो, वैसे-वैसे) करे।

‘ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः’—‘तत्त्वदर्शिनः’ पदका तात्पर्य यह है कि उस महापुरुषको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो गया हो; और ‘ज्ञानिनः’ पदका तात्पर्य यह है कि उन्हें वेदों तथा शास्त्रोंका अच्छी तरह ज्ञान हो। ऐसे तत्त्वदर्शी और ज्ञानी महापुरुषके पास जाकर ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अन्तःकरणकी शुद्धिके अनुसार ज्ञानके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम अधिकारीको श्रवणमात्रसे तत्त्वज्ञान हो जाता है^१। मध्यम अधिकारीको श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे तत्त्वज्ञान होता है। कनिष्ठ अधिकारी तत्त्वको समझनेके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारकी शंकाएँ किया करता है। उन शंकाओंका समाधान करनेके लिये वेदों और शास्त्रोंका ठीक-ठीक ज्ञान होना आवश्यक है; क्योंकि वहाँ केवल युक्तियोंसे तत्त्वको समझाया नहीं जा सकता। अतः यदि गुरु तत्त्वदर्शी हो, पर ज्ञानी न हो, तो वह शिष्यकी तरह-तरहकी शंकाओंका समाधान नहीं कर सकेगा। यदि गुरु शास्त्रोंका ज्ञाता हो, पर तत्त्वदर्शी न हो तो उसकी बातें वैसी ठोस नहीं होंगी, जिससे श्रोताको ज्ञान हो जाय। वह बातें सुना सकता है, पुस्तकें पढ़ सकता है, पर शिष्यको बोध नहीं करा सकता। इसलिये गुरुका तत्त्वदर्शी और ज्ञानी—दोनों ही होना बहुत जरूरी है।

‘उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्’—महापुरुषको दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और उनसे सरलता-पूर्वक प्रश्न करनेसे वे तुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे—

१-आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।

समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये॥ (अध्यात्मरामायण, उत्तर० ५।७)

‘सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये शास्त्रोंमें वर्णित क्रियाओंका यथावत् पालन करके चित्त शुद्ध हो जानेपर उन क्रियाओंका त्याग कर दे, फिर शम-दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय।’

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्याणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक० १।२।१२)

‘उस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये वह जिज्ञासु साधक हाथमें समिधा लिये हुए विनयपूर्वक वेदशास्त्रोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानी गुरुके पास जाय।’

२-उत्तम अधिकारी वही है, जिसमें तत्त्वप्राप्तिकी लगन हो, जिसको तत्त्वप्राप्तिमें भविष्य अच्छा न लगे अर्थात् जो वर्तमानमें ही तत्काल तत्त्वप्राप्ति करना चाहता हो।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि महापुरुषको इन सबकी अपेक्षा रहती है। वास्तवमें उन्हें प्रणाम, सेवा आदिकी किञ्चिन्मात्र भी भूख नहीं होती। यह सब कहनेका भाव है कि जब साधक इस प्रकार जिज्ञासा करता है और सरलतापूर्वक महापुरुषके पास जाकर रहता है, तब उस महापुरुषके अन्तःकरणमें उसके प्रति विशेष भाव पैदा होते हैं, जिससे साधकको बहुत लाभ होता है। यदि साधक इस प्रकार उनके पास न रहे, तो ज्ञान मिलनेपर भी वह उसे ग्रहण नहीं कर सकेगा।

‘ज्ञानम्’ पद यहाँ तत्त्वज्ञान अथवा स्वरूप-बोधका वाचक है। वास्तवमें ज्ञान स्वरूपका नहीं होता, प्रत्युत संसारका होता है। संसारका ज्ञान होते ही संसारसे सम्बन्ध-

विच्छेद हो जाता है और स्वतःसिद्ध स्वरूपका अनुभव हो जाता है।

‘उपदेक्ष्यन्ति’ पदका यह तात्पर्य है कि महापुरुष ज्ञानका उपदेश तो देते हैं, पर उससे साधकको बोध ही जाय, ऐसा निश्चित नहीं है। आगे उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है कि श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त करता है—‘श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।’ कारण कि श्रद्धा अन्तःकरणकी वस्तु है; परन्तु प्रणाम, सेवा, प्रश्न आदि कपटपूर्वक भी किये जा सकते हैं। इसलिये यहाँ महापुरुषके द्वारा केवल ज्ञानका उपदेश देनेकी ही बात कही गयी है और उनतालीसवें श्लोकमें श्रद्धावान् साधकके द्वारा ज्ञान प्राप्त होनेकी बात कही गयी है।

सम्बन्ध—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रचलित प्रणालीका वर्णन करके अब भगवान् आगेके तीन (पैंतीसवें, छत्तीसवें और सैंतीसवें) श्लोकोंमें तत्त्वज्ञानका वास्तविक माहात्म्य बताते हैं।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

यत्	= जिस (तत्त्वज्ञान)- का	न	= नहीं	अशेषेण	= निःशेषभावसे (पहले)
ज्ञात्वा	= अनुभव करनेके बाद (तू)	यास्यसि	= प्राप्त होगा (और)	आत्मनि	= अपनेमें (और)
पुनः	= फिर	पाण्डव	= हे अर्जुन!	अथो	= उसके बाद
एवम्	= इस प्रकार	येन	= जिस (तत्त्व- ज्ञान)-से	मयि	= मुझ सच्चिदानन्दधन परमात्मामें
मोहम्	= मोहको	भूतानि	= (तू) सम्पूर्ण प्राणियोंको	द्रक्ष्यसि	= देखेगा।

व्याख्या—‘यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव’—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने कहा कि वे महापुरुष तेरेको तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे; परन्तु उपदेश सुननेमात्रसे वास्तविक बोध अर्थात् स्वरूपका यथार्थ अनुभव नहीं होता—‘श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्’ (गीता २। २९); और वास्तविक बोधका वर्णन भी कोई कर नहीं सकता। कारण कि वास्तविक बोध करण-निरपेक्ष है अर्थात् मन, वाणी आदिसे परे है। अतः वास्तविक बोध स्वयंके द्वारा ही स्वयंको होता है और यह तब होता है, जब मनुष्य अपने विवेक (जड-चेतनके भेदका ज्ञान)-को महत्त्व देता है। विवेकको महत्त्व देनेसे जब अविवेक सर्वथा मिट जाता है, तब वह विवेक ही वास्तविक बोधमें परिणत हो जाता है और जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करा देता है। वास्तविक बोध होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता।

गीताके पहले अध्यायमें अर्जुनका मोह प्रकट होता है कि युद्धमें सभी कुटुम्बी, सगे-सम्बन्धी लोग मर जायँगे तो उन्हें पिण्ड और जल देनेवाला कौन होगा? पिण्ड और जल न देनेसे वे नरकोंमें गिर जायँगे। जो जीवित रह जायँगे, उन स्त्रियोंका और बच्चोंका निर्वाह और पालन कैसे होगा? आदि-आदि। तत्त्वज्ञान होनेके बाद ऐसा मोह नहीं रहता। बोध होनेपर जब संसारसे मैं-मेरेपनका सम्बन्ध नहीं रहता, तब पुनः मोह होनेका प्रश्न ही नहीं रहता।

‘येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मनि’—तत्त्वज्ञान होते ही ऐसा अनुभव होता है कि मेरी सत्ता सर्वत्र परिपूर्ण है और उस सत्ताके अन्तर्गत ही अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकी सृष्टिको अपनेमें ही देखता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों (जगत्)-को अपनेमें ही देखता है। छोटे अध्यायके उनतीसवें श्लोकमें

आये 'सर्वभूतानि चात्मनि' पदोंसे भी इसी स्थितिका वर्णन किया गया है।

'अथो मयि'—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी जो प्रचलित प्रक्रिया है, उसीके अनुसार भगवान् कह रहे हैं कि गुरुसे विधिपूर्वक (श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक) तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करनेपर साधक पहले अपने स्वरूपमें सम्पूर्ण प्राणियोंको देखता है—यह 'त्वम्' पदका अनुभव हुआ, फिर वह स्वरूपको तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको एक सच्चिदानन्दधन परमात्मामें देखता है—यह 'तत्' पदका अनुभव हुआ। इस तरह उसको पहले 'त्वम्' (स्वरूप) का और फिर 'तत्' (परमात्मतत्त्व) के साथ 'त्वम्'की एकताका अनुभव हो जाता है। एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म शेष रह जाता है। ऐसी अवस्थामें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये तीनों ही नहीं रहते। परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें उसके अपने कहलानेवाले अन्तःकरणमें जो भाव दीखता है, उसको लेकर ही भगवान् कहते हैं कि वह सबको मेरेमें देखता है।

स्थूल दृष्टिसे समुद्र और लहरोंमें भिन्नता दीखती है। लहरें समुद्रमें ही उठती और लीन होती रहती हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे समुद्र और लहरोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत्ता केवल एक जल-तत्त्वकी ही है। जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न लहरें। पृथ्वीसे सम्बन्ध होनेके कारण समुद्र भी सीमित है और लहरें भी; परन्तु जल-तत्त्व सीमित नहीं है। अतः समुद्र और लहरोंको न देखकर एक जल-तत्त्वको देखना ही यथार्थ दृष्टि है। इसी तरह संसाररूप समुद्र और शरीररूप लहरोंमें भिन्नता दीखती है। शरीर संसारमें ही उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। परन्तु वास्तवमें संसार और शरीर-समुदायकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। सत्ता केवल परमात्मतत्त्वकी ही है। परमात्मतत्त्वमें न संसार है, न शरीर। प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण संसार भी सीमित है और शरीर भी। परन्तु परमात्मतत्त्व सीमित नहीं है। अतः संसार और शरीरोंको न देखकर एक परमात्मतत्त्वको देखना ही यथार्थ दृष्टि है (गीता—तेरहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—तत्त्वज्ञान अथवा अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञानकी आवृत्ति नहीं होती। वह एक बार अनुभवमें आ गया तो सदाके लिये आ ही गया! कारण कि जब अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, तो फिर पुनः अज्ञान कैसे होगा? अतः नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति होती है।

स्वयं सत्तामात्र तथा बोधस्वरूप है। बोधका अनादर करनेसे हमने असत्को स्वीकार किया और असत्को स्वीकार करनेसे अविवेक हुआ। तात्पर्य है कि बोधसे विमुख होकर हमने असत्को सत्ता दी और असत्को सत्ता देनेसे विवेकका अनादर हुआ। वास्तवमें बोधका अनादर किया नहीं है, प्रत्युत अनादिकालसे अनादर है। अगर ऐसा मानें कि हमने बोधका अनादर किया तो इससे सिद्ध होगा कि पहले बोधका आदर था। अतः अब आदर करेंगे तो पुनः अनादर हो जायगा। परन्तु बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें मोह है ही नहीं। मिटता वही है, जो नहीं होता और मिलता वही है, जो होता है।

जगत् जीवके अन्तर्गत है और जीव परमात्माके अन्तर्गत है, इसलिये साधक पहले जगत्को अपनेमें देखता है—'द्रक्ष्यस्यात्मनि', फिर अपनेको परमात्मामें देखता है—'अथो मयि।' 'द्रक्ष्यस्यात्मनि' में आत्मज्ञान (ज्ञान) है और 'अथो मयि' में परमात्मज्ञान (विज्ञान) है। आत्मज्ञानमें निजानन्द है और परमात्मज्ञानमें परमानन्द है। लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग)—से आत्मज्ञानका अनुभव होता है और अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग)—से परमात्मज्ञानका अनुभव होता है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार समग्रका ज्ञान 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानसे मुक्ति तो हो जाती है, पर सूक्ष्म अहम्की गन्ध रह जाती है, जिससे दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अगर सूक्ष्म अहम्की गन्ध न हो तो फिर मतभेद कहाँसे आया? परन्तु परमात्मज्ञानसे सूक्ष्म अहम्की गन्ध भी नहीं रहती और उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद समाप्त हो जाते हैं। तात्पर्य हुआ कि जबतक 'आत्मनि' है, तबतक दार्शनिक मतभेद हैं। जब 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव होनेपर सब मतभेद मिट जाते हैं, तब 'अथो मयि' हो जाता है। 'अथो मयि' में एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं रहती।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

चेत्	= अगर (तू)	पापकृत्तमः	= अधिक पापी	सर्वम्	= सम्पूर्ण
सर्वेभ्यः	= सब	असि	= है, (तो भी तू)	वृजिनम्	= पाप-समुद्रसे
पापेभ्यः	= पापियोंसे	ज्ञानप्लवेन	= ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा	सन्तरिष्यसि	= अच्छी तरह तर
अपि	= भी	एव	= निःसन्देह		जायगा ।

व्याख्या—‘अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पाप-कृत्तमः’—पाप करनेवालोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—(१) ‘पापकृत्’ अर्थात् पाप करनेवाला, (२) ‘पापकृत्तर’ अर्थात् दो पापियोंमें एकसे अधिक पाप करनेवाला और (३) ‘पापकृत्तम’ अर्थात् सम्पूर्ण पापियोंमें सबसे अधिक पाप करनेवाला। यहाँ ‘पापकृत्तमः’ पदका प्रयोग करके भगवान् कहते हैं कि अगर तू सम्पूर्ण पापियोंमें भी अत्यन्त पाप करनेवाला है, तो भी तत्त्वज्ञानसे तू सम्पूर्ण पापोंसे तर सकता है।

भगवान्का यह कथन बहुत आश्वासन देनेवाला है। तात्पर्य यह है कि जो पापोंका त्याग करके साधनमें लगा हुआ है, उसका तो कहना ही क्या है! पर जिसने पहले बहुत पाप किये हों, उसको भी जिज्ञासा जाग्रत् होनेके बाद अपने उद्धारके विषयमें कभी निराश नहीं होना चाहिये। कारण कि पापी-से-पापी मनुष्य भी यदि चाहे तो इसी जन्ममें अभी अपना कल्याण कर सकता है। पुराने पाप उतने बाधक नहीं होते, जितने वर्तमानके पाप बाधक होते हैं। अगर मनुष्य वर्तमानमें पाप करना छोड़ दे और निश्चय कर ले कि अब मैं कभी पाप नहीं करूँगा और केवल तत्त्वज्ञानको प्राप्त करूँगा, तो उसके पापोंका नाश होते देरी नहीं लगती।

यदि कहीं सौ वर्षोंसे घना अँधेरा छाया हो और वहाँ दीपक जला दिया जाय, तो उस अँधेरेको दूर करके प्रकाश करनेमें दीपकको सौ वर्ष नहीं लगते, प्रत्युत दीपक जलाते ही तत्काल अँधेरा मिट जाता है। इसी तरह तत्त्वज्ञान होते ही पहले किये गये सम्पूर्ण पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं।

‘चेत्’—(यदि) पद देनेका तात्पर्य यह है कि प्रायः

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान्ने ‘पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः’ पदोंसे पापीकी आखिरी हद बता दी है! यद्यपि ‘पापेभ्यः’ पद बहुवचन होनेसे सम्पूर्ण पापियोंका वाचक है, फिर भी भगवान्ने इसके साथ ‘सर्वेभ्यः’ पद दिया। ‘सर्वेभ्यः’ पद भी सम्पूर्णका वाचक है। ये दो पद देनेके बाद भी भगवान्ने ‘पापकृत्तमः’ पद और दिया है, जो अतिशयताका बोधक है। पहले ‘पापकृत्’ होता है, फिर ‘पापकृत्तर’ होता है और फिर ‘पापकृत्तम’ होता है। तात्पर्य निकला कि सम्पूर्ण संसारमें जितने भी पापी हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण पापियोंसे भी जो अत्यधिक पापी है, उसको भी ज्ञान प्राप्त

ऐसे पापी मनुष्य परमात्मामें नहीं लगते; परन्तु वे परमात्मामें लग नहीं सकते—ऐसी बात नहीं है। किसी महापुरुषके संगसे अथवा किसी घटना, परिस्थिति, वातावरण आदिके प्रभावसे यदि उनका ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय कि अब परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना ही है, तो वे भी सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जाते हैं।

नवें अध्यायके तीसवें-इकतीसवें श्लोकोंमें भी भगवान्ने ऐसी ही बात अनन्यभावसे अपना भजन करनेवालेके लिये कही है कि महान् दुराचारी मनुष्य भी अगर यह निश्चय कर ले कि अब मैं भगवान्का भजन ही करूँगा, तो उसका भी बहुत जल्दी कल्याण हो जाता है।

‘सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि’—प्रकृतिके कार्य शरीर और संसारके सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण पाप होते हैं। तत्त्वज्ञान होनेपर जब इनसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब पाप कैसे रह सकते हैं—‘मूलाभावे कुतः शाखा’?

परमात्माके स्वतःसिद्ध ज्ञानके साथ एक होना ही ‘ज्ञानप्लव’ अर्थात् ज्ञानरूप नौकाका प्राप्त होना है। मनुष्य कितना ही पापी क्यों न रहा हो, ज्ञानरूप नौकासे वह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जाता है। यह ज्ञानरूप नौका कभी टूटती-फूटती नहीं, इसमें कभी छिद्र नहीं होता और यह कभी डूबती भी नहीं। यह मनुष्यको पाप-समुद्रसे पार करा देती है।

‘ज्ञानयज्ञ’ (चौथे अध्यायका तैंतीसवाँ श्लोक) से ही यह ज्ञानरूप नौका प्राप्त होती है। यह ज्ञानयज्ञ आरम्भसे ही ‘विवेक’ को लेकर चलता है और ‘तत्त्वज्ञान’में इसकी पूर्णता हो जाती है। पूर्णता होनेपर लेशमात्र भी पाप नहीं रहता।

हो सकता है! कारण कि पाप कितने ही क्यों न हों, हैं वे असत् ही, जबकि ज्ञान सत् है। सत्के आगे असत् कैसे टिक सकता है! पाप अपवित्र है, जबकि ज्ञान परमपवित्र है (इसी अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। अपवित्र वस्तु पवित्र वस्तुको कैसे अटका सकती है! अतः पापोंमें ज्ञानको अटकानेकी ताकत नहीं है। ज्ञानप्राप्तिमें खास बाधा है—नाशवान् सुखकी आसक्ति (गीता—तीसरे अध्यायके सैंतीसवेंसे इकतालीसवें श्लोकतक)। भोगासक्तिके कारण ही मनुष्यकी पारमार्थिक विषयमें रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति बड़ी कठिन प्रतीत होती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

अर्जुन	= हे अर्जुन !	एधांसि	= ईधनोंको	ज्ञानाग्निः	= ज्ञानरूपी अग्नि
यथा	= जैसे	भस्मसात्	= सर्वथा भस्म	सर्वकर्माणि	= सम्पूर्ण कर्मोंको
समिद्धः	= प्रज्वलित	कुरुते	= कर देती है,	भस्मसात्	= सर्वथा भस्म
अग्निः	= अग्नि	तथा	= ऐसे ही	कुरुते	= कर देती है।

व्याख्या—‘यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन’—पीछेके श्लोकमें भगवान्ने ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रको तरनेकी बात कही। उससे यह प्रश्न पैदा होता है कि पापसमुद्र तो शेष रहता ही है, फिर उसका क्या होगा? अतः भगवान् पुनः दूसरा दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि सम्पूर्ण ईधनोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किंचिन्मात्र भी अंश शेष नहीं रहता, ऐसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण पापोंको इस प्रकार भस्म कर देती है कि उनका किंचिन्मात्र भी अंश शेष नहीं रहता।

‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा’—जैसे अग्नि काष्ठको भस्म कर देती है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान-रूपी अग्नि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—तीनों कर्मोंको भस्म कर देती है। जैसे अग्निमें काष्ठका अत्यन्त अभाव हो जाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञानमें सम्पूर्ण कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान होनेपर कर्मोंसे अथवा संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अनुभव नहीं होता, प्रत्युत एक परमात्मतत्त्व ही शेष रहता है।

वास्तवमें मात्र क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक)। उन क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेनेसे कर्म होते हैं। नाड़ियोंमें रक्त-प्रवाह होना, शरीरका बालकसे जवान होना, श्वासोंका

आना-जाना, भोजनका पचना आदि क्रियाएँ जिस समष्टि प्रकृतिसे होती हैं, उसी प्रकृतिसे खाना-पीना, चलना, बैठना, देखना, बोलना आदि क्रियाएँ भी होती हैं। परन्तु मनुष्य अज्ञानवश उन क्रियाओंसे अपना सम्बन्ध मान लेता है अर्थात् अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है। इससे वे क्रियाएँ ‘कर्म’ बनकर मनुष्यको बाँध देती हैं। इस प्रकार माने हुए सम्बन्धसे ही कर्म होते हैं, अन्यथा क्रियाएँ ही होती हैं।

तत्त्वज्ञान होनेपर अनेक जन्मोंके संचित कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। कारण कि सभी संचित कर्म अज्ञानके आश्रित रहते हैं; अतः ज्ञान होते ही (आश्रय, आधाररूप अज्ञान न रहनेसे) वे नष्ट हो जाते हैं। तत्त्वज्ञान होनेपर कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता; अतः सभी क्रियमाण कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फलजनक नहीं होते। प्रारब्ध कर्मका घटना-अंश (अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति) तो जबतक शरीर रहता है, तबतक रहता है; परन्तु ज्ञानीपर उसका कोई असर नहीं पड़ता। कारण कि तत्त्वज्ञान होनेपर भोक्तृत्व नहीं रहता; अतः अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति सामने आनेपर वह सुखी-दुःखी नहीं होता। इस प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण—तीनों कर्मोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। कर्मोंसे अपना सम्बन्ध न रहनेसे कर्म नहीं रहते, भस्म रह जाती है अर्थात् सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगे कहे श्लोकके पूर्वार्धमें तत्त्वज्ञानकी महिमा बताते हुए उत्तरार्धमें कर्मयोगकी विशेष महत्ता प्रकट करते हैं।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

इह	= इस मनुष्यलोकमें	साधन)	कर्मयोगी)
ज्ञानेन	= ज्ञानके	न	= नहीं
सदृशम्	= समान	विद्यते	= है ।
पवित्रम्	= पवित्र करनेवाला	योगसंसिद्धः	= जिसका योग
हि	= निःसन्देह		भलीभाँति सिद्ध
	(दूसरा कोई		हो गया है, (वह
			तत्
			कालेन
			स्वयम्
			आत्मनि
			विन्दति
			= उस तत्त्वज्ञानको
			= अवश्य ही
			= स्वयं
			= अपने-आपमें
			= पा लेता है ।

व्याख्या—‘न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते’—यहाँ ‘इह’ पद मनुष्यलोकका वाचक है; क्योंकि सब-की-सब पवित्रता इस मनुष्यलोकमें ही प्राप्त की जाती है। पवित्रता प्राप्त करनेका अधिकार और अवसर मनुष्य-शरीरमें ही है। ऐसा अधिकार किसी अन्य शरीरमें नहीं है। अलग-अलग लोकोंके अधिकार भी मनुष्यलोकसे ही मिलते हैं।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ताको माननेसे तथा उससे सुख लेनेकी इच्छासे ही सम्पूर्ण दोष, पाप उत्पन्न होते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, तब सम्पूर्ण पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है और महान् पवित्रता आ जाती है। इसलिये संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन है ही नहीं।

संसारमें यज्ञ, दान, तप, पूजा, व्रत, उपवास, जप, ध्यान, प्राणायाम आदि जितने साधन हैं तथा गंगा, यमुना, गोदावरी आदि जितने तीर्थ हैं, वे सभी मनुष्यके पापोंका नाश करके उसे पवित्र करनेवाले हैं। परन्तु उन सबमें भी तत्त्वज्ञानके समान पवित्र करनेवाला कोई भी साधन, तीर्थ आदि नहीं है; क्योंकि वे सब तत्त्वज्ञानके साधन हैं और तत्त्वज्ञान उन सबका साध्य है।

परमात्मा पवित्रोंके भी पवित्र हैं—‘पवित्राणां पवित्रम्’ (विष्णुसहस्र० १०)। उन्हीं परमपवित्र परमात्माका अनुभव करनेवाला होनेसे तत्त्वज्ञान भी अत्यन्त पवित्र है।

‘योगसंसिद्धः’—जिसका कर्मयोग सिद्ध हो गया है अर्थात् कर्मयोगका अनुष्ठान सांगोपांग पूर्ण हो गया है, उस महापुरुषको यहाँ ‘योगसंसिद्धः’ कहा गया है, छठे अध्यायके चौथे श्लोकमें उसीको ‘योगारूढः’ कहा गया है। योगारूढ होना कर्मयोगकी अन्तिम अवस्था है। योगारूढ होते ही तत्त्वबोध हो जाता है। तत्त्वबोध हो जानेपर

संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

कर्मयोगकी मुख्य बात है—अपना कुछ भी न मानकर सम्पूर्ण कर्म संसारके हितके लिये करना, अपने लिये कुछ भी न करना। ऐसा करनेपर सामग्री और क्रिया-शक्ति—दोनोंका प्रवाह संसारकी सेवामें हो जाता है। संसारकी सेवामें प्रवाह होनेपर ‘मैं सेवक हूँ’ ऐसा (अहम्का) भाव भी नहीं रहता अर्थात् सेवक नहीं रहता, केवल सेवा रह जाती है। इस प्रकार जब सेवक सेवा बनकर सेव्यमें लीन हो जाता है, तब प्रकृतिके कार्य शरीर तथा संसारसे सर्वथा वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है। वियोग होनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती, केवल क्रिया रह जाती है। इसीको योगकी संसिद्धि अर्थात् सम्यक् सिद्धि कहते हैं।

कर्म और फलकी आसक्तिसे ही ‘योग’का अनुभव नहीं होता। वास्तवमें कर्मों और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद स्वतःसिद्ध है। कारण कि कर्म और पदार्थ तो अनित्य (आदि-अन्तवाले) हैं, और अपना स्वरूप नित्य है। अनित्य कर्मोंसे नित्य स्वरूपको क्या मिल सकता है? इसलिये स्वरूपको कर्मोंके द्वारा कुछ नहीं पाना है—यह ‘कर्मविज्ञान’ है। कर्मविज्ञानका अनुभव होनेपर कर्मफलसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् कर्मजन्य सुख लेनेकी आसक्ति सर्वथा मिट जाती है, जिसके मिटते ही परमात्माके साथ अपने स्वाभाविक नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है, जो ‘योगविज्ञान’ है। योगविज्ञानका अनुभव होना ही योगकी संसिद्धि है।

‘तत्स्वयं कालेनात्मनि विन्दति’—जिस तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं और जिसके समान पवित्र करनेवाला संसारमें दूसरा कोई साधन नहीं है, उसी तत्त्व-ज्ञानको कर्मयोगी योगसंसिद्ध होनेपर दूसरे किसी साधनके बिना स्वयं अपने-आपमें ही तत्काल प्राप्त कर लेता है।

चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्ने बताया था कि प्रचलित प्रणालीके अनुसार कर्मोंका त्याग करके गुरुके पास जानेपर वे तत्त्वज्ञानका उपदेश देंगे—‘उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्।’ किंतु गुरु तो उपदेश दे देंगे, पर उससे तत्त्वज्ञान हो ही जायगा—ऐसा निश्चित नहीं है। फिर भी भगवान् यहाँ बताते हैं कि कर्मयोगकी प्रणालीसे कर्म करनेवाले मनुष्यको योगसंसिद्धि मिल जानेपर तत्त्वज्ञान हो ही जाता है।

उपर्युक्त पदोंमें आया ‘कालेन’ पद विशेष ध्यान देनेयोग्य है। भगवान्ने व्याकरणकी दृष्टिसे ‘कालेन’ पद तृतीयामें प्रयुक्त करके यह बताया है कि कर्मयोगसे अवश्य ही तत्त्वज्ञान अथवा परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है*।

‘स्वयम्’ पद देनेका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगीको किसी गुरुकी, ग्रन्थकी या दूसरे किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है। कर्मयोगकी विधिसे कर्तव्य-कर्म करते हुए ही उसे अपने-आप तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा।

‘आत्मनि विन्दति’ पदोंका तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञानको प्राप्त करनेके लिये कर्मयोगीको किसी दूसरी जगह जानेकी जरूरत नहीं है। कर्मयोग सिद्ध होनेपर उसे अपने-आपमें ही स्वतःसिद्ध तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाता है।

परमात्मा सब जगह परिपूर्ण होनेसे अपनेमें भी हैं। जहाँ साधक ‘मैं हूँ’-रूपसे अपने-आपको मानता है, वहीं परमात्मा विराजमान हैं, परन्तु परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण अपने-आपमें स्थित परमात्माका अनुभव नहीं होता। कर्मयोगका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेसे जब संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् संसारसे तादात्म्य, ममता और कामना मिट जाती है, तब उसे अपने-आपमें ही तत्त्वका सुखपूर्वक अनुभव हो जाता है—‘निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते’ (गीता ५।३)।

परमात्मतत्त्वका ज्ञान करण-निरपेक्ष है। इसलिये उसका अनुभव अपने-आपसे ही हो सकता है, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि

आदि करणोंसे नहीं। साधक किसी भी उपायसे तत्त्वको जाननेका प्रयत्न क्यों न करे, पर अन्तमें वह अपने-आपसे ही तत्त्वको जानेगा। श्रवण-मनन आदि साधन तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेमें असम्भावना, विपरीत भावना आदि ज्ञानकी बाधाओंको दूर करनेवाले परम्परागत साधन माने जा सकते हैं, पर वास्तविक बोध अपने-आपसे ही होता है; कारण कि मन, बुद्धि आदि सब जड़ हैं। जड़के द्वारा उस चिन्मय तत्त्वको कैसे जाना जा सकता है, जो जड़से सर्वथा अतीत है? वास्तवमें तत्त्वका अनुभव जड़के सम्बन्ध-विच्छेदसे होता है, जड़के द्वारा नहीं। जैसे, आँखोंसे संसारको तो देखा जा सकता है, पर आँखोंसे आँखोंको नहीं देखा जा सकता; परन्तु यह कहा जा सकता है कि जिससे देखते हैं, वही आँख है। इसी प्रकार जो सबको जाननेवाला है, उसे किसके द्वारा जाना जा सकता है—‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ (बृहदारण्यक० २।४।१४)? परन्तु जिससे सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान होता है, वही परमात्मतत्त्व है।

विशेष बात

इस अध्यायके तैंतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक भगवान्ने ज्ञानकी जो प्रशंसा की है, उससे ज्ञानयोगकी विशेष महिमा झलकती है; परन्तु वास्तवमें उसे ज्ञानयोगकी ही महिमा मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। गहरा विचार करें तो इसमें अर्जुनके प्रति भगवान्का एक गूढ़ अभिप्राय प्रतीत होता है कि जो तत्त्वज्ञान इतना महान् और पवित्र है तथा जिस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिये मैं तुझे तत्त्वदर्शी महापुरुषके पास जानेकी आज्ञा दे रहा हूँ, उस ज्ञानको तू स्वयं कर्मयोगके द्वारा अवश्यमेव प्राप्त कर सकता है—‘तत्त्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति’ (गीता ४।३८)। इस प्रकार ज्ञानयोगकी प्रशंसाके ये श्लोक वास्तवमें प्रकारान्तरसे कर्मयोगकी ही विशेषता, महिमा बतानेके लिये हैं। भगवान्का अभिप्राय यह नहीं था कि अर्जुन ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करे। भगवान्का अभिप्राय यह था

* ‘कालेन’—इस शब्दमें ‘कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे’ (पाणिनिसूत्र २।३।५)—इससे प्राप्त द्वितीया विभक्तिका निषेध करके ‘अपवर्गे तृतीया’ (वही २।३।६)—इससे तृतीया विभक्ति हुई है। तृतीया विभक्ति वहाँ होती है, जहाँ अवश्य फलप्राप्तिका अर्थात् कार्य अवश्य सिद्ध होनेका द्योतन होता है। परन्तु जहाँ द्वितीया विभक्ति होती है, वहाँ अवश्य फलप्राप्तिका द्योतन नहीं होता; जैसे—‘मासम् अधीते’ पद द्वितीयामें प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है कि एक मासमें भी पूरा न पढ़ सका। परन्तु यही पद यदि ‘मासेन अधीते’ इस प्रकार तृतीयामें प्रयुक्त होता है, तो इसका अर्थ है कि एक मासमें पूरा पढ़ लिया। इसी प्रकार भगवान्ने यहाँ द्वितीयामें ‘कालम्’ पद न देकर तृतीयामें ‘कालेन’ पद दिया है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि कर्मयोगसे अवश्य फलप्राप्ति (सिद्धि) होती है।

कि जो ज्ञान इतनी दुर्लभतासे, ज्ञानियोंके पास रहकर उनकी सेवा करके और विनयपूर्वक प्रश्नोत्तर करके तथा उसके अनुसार श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके प्राप्त करेगा, वही ज्ञान तुझे कर्मयोगकी विधिसे प्राप्त कर्तव्य- (युद्ध-) का पालन करनेसे ही प्राप्त हो जायगा। जिस तत्त्वज्ञानके लिये मैंने तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास जानेकी प्रेरणा की है, वह तत्त्वज्ञान प्राप्त हो ही जायगा, यह निश्चित नहीं है; क्योंकि जिस पुरुषके पास जाओगे, वह तत्त्वदर्शी ही है—इसका क्या पता? और उस महापुरुषके प्रति श्रद्धाकी कमी भी रह सकती है। दूसरी बात, इस प्रक्रियामें पहले सम्पूर्ण प्राणियोंको अपनेमें देखेगा और उसके बाद सम्पूर्ण प्राणियोंको एक परमात्मतत्त्वमें देखेगा (गीता—चौथे

अध्यायका पैंतीसवाँ श्लोक)। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेकी इस प्रक्रियामें संशय तथा विलम्बकी सम्भावना है। परन्तु कर्मयोगके द्वारा अन्य पुरुषकी अपेक्षाके बिना, अवश्यमेव और तत्काल उस तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जाता है। इसलिये मैं तेरे लिये कर्मयोगको ही ठीक समझता हूँ; अतः तुझे प्रचलित प्रणालीके ज्ञानका उपदेश मैं नहीं दूँगा।

भगवान् तो महापुरुषोंके भी महापुरुष हैं। अतः वे अर्जुनको किसी दूसरे महापुरुषके पास जाकर ज्ञान सीखनेके लिये कैसे कह सकते हैं? आगे इसी अध्यायके इकतालीसवें श्लोकमें भगवान्ने कर्मयोगकी प्रशंसा करके बयालीसवें श्लोकमें अर्जुनको समतामें स्थित होकर युद्ध करनेकी स्पष्टरूपसे आज्ञा दी है।

परिशिष्ट भाव—‘पवित्रमिह’—अपवित्रता संसारके सम्बन्धसे आती है। तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब अपवित्रता रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसलिये ज्ञानमें किञ्चिन्मात्र भी अपवित्रता, जड़ता, विकार नहीं है।

‘इह’ पद ‘लोक’ का वाचक है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान लौकिक है, जबकि परमात्मज्ञान अलौकिक है।

सम्बन्ध—अब भगवान् आगेके श्लोकमें ज्ञान-प्राप्तिके पात्रका निरूपण करते हैं।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

संयतेन्द्रियः	= (जो) जितेन्द्रिय (तथा)	ज्ञानम्	= ज्ञानको	अचिरेण	= तत्काल
तत्परः	= साधन-परायण है, (ऐसा)	लभते	= प्राप्त होता है (और)	पराम्	= परम
श्रद्धावान्	= श्रद्धावान् मनुष्य	ज्ञानम्	= ज्ञानको	शान्तिम्	= शान्तिको
		लब्ध्वा	= प्राप्त होकर (वह)	अधिगच्छति	= प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—‘तत्परः संयतेन्द्रियः’—इस श्लोकमें श्रद्धावान् पुरुषको ज्ञान प्राप्त होनेकी बात आयी है। अपनेमें श्रद्धा कम होनेपर भी मनुष्य भूलसे अपनेको अधिक श्रद्धावाला मान सकता है, इसलिये भगवान्ने श्रद्धाकी पहचानके लिये दो विशेषण दिये हैं—‘संयतेन्द्रियः’ और ‘तत्परः।’

जिसकी इन्द्रियाँ पूर्णतया वशमें हैं, वह ‘संयतेन्द्रियः’ है और जो अपने साधनमें तत्परतापूर्वक लगा हुआ है, वह ‘तत्परः’ है। साधनमें तत्परताकी कसौटी है—इन्द्रियोंका संयत होना। अगर इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं और विषयभोगोंकी तरफ जाती हैं, तो साधन-परायणतामें कमी समझनी चाहिये।

‘श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्’—परमात्मामें, महापुरुषोंमें, धर्ममें और शास्त्रोंमें प्रत्यक्षकी तरह आदरपूर्वक विश्वास

होना ‘श्रद्धा’ कहलाती है।

जबतक परमात्मतत्त्वका अनुभव न हो, तबतक परमात्मामें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास होना चाहिये। वास्तवमें परमात्मासे देश, काल आदिकी दूरी नहीं है, केवल मानी हुई दूरी है। दूरी माननेके कारण ही परमात्मा सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी अनुभवमें नहीं आ रहे हैं। इसलिये ‘परमात्मा अपनेमें हैं’ ऐसा मान लेनेका नाम ही श्रद्धा है। कैसा ही व्यक्ति क्यों न हो, अगर वह एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना चाहता है और ‘परमात्मा अपनेमें हैं’ ऐसी श्रद्धावाला है, तो उसे अवश्य परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो जाता है।

संसार प्रतिक्षण ही जा रहा है, एक क्षण भी टिकता

नहीं। उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। केवल परमात्माकी सत्तासे ही वह सत्तावान् दीख रहा है। इस तरह संसारकी स्वतन्त्र सत्ताको न मानकर एक परमात्माकी सत्ताको ही मानना श्रद्धा है। ऐसी श्रद्धा होनेपर तत्काल ज्ञान हो जाता है।

जबतक इन्द्रियाँ संयत न हों और साधनमें तत्परता न हो, तबतक श्रद्धामें कमी समझनी चाहिये। यदि इन्द्रियाँ विषयोंकी तरफ जाती हैं, तो साधनमें तत्परता नहीं आती। साधनमें तत्परता न होनेसे दूसरेकी परायणता, दूसरेका आदर होता है। जबतक साधन-परायणता नहीं होती, तबतक श्रद्धा भी पूरी नहीं होती। श्रद्धा पूरी न होनेके कारण ही तत्त्वके अनुभवमें देरी लगती है, नहीं तो नित्यप्राप्त तत्त्वके अनुभवमें देरीका कारण है ही नहीं।

इसी अध्यायके चौंतीसवें श्लोकमें भगवान्ने गुरुके पास जाकर विधिपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणालीका वर्णन करते हुए तीन साधन बताये—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा। यहाँ भगवान्ने ज्ञान प्राप्त करनेका एक साधन बताया है—श्रद्धा। चौंतीसवें श्लोकमें 'उपदेश्यन्ति' पदसे गुरुके द्वारा केवल ज्ञानका उपदेश देनेकी बात आयी है; उपदेशसे ज्ञान प्राप्त हो जायगा, ऐसी बात वहाँ नहीं आयी। परन्तु इस श्लोकमें 'लभते' पदसे ज्ञान प्राप्त होनेकी बात आयी है। तात्पर्य यह है कि चौंतीसवें श्लोकमें कहे साधनोंसे ज्ञान प्राप्त हो जायगा—ऐसा निश्चित नहीं है; परन्तु इस श्लोकमें कहे साधनसे निश्चितरूपसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है। कारण यह है कि चौंतीसवें श्लोकमें कहे साधन बहिरंग होनेसे कपटभावसे तथा साधारणभावसे भी किये जा सकते हैं; परन्तु इस श्लोकमें कहा साधन अन्तरंग होनेसे कपटभावसे तथा साधारणभावसे नहीं किया जा सकता (गीता—सत्रहवें अध्यायका तीसरा श्लोक)। इसलिये ज्ञानकी प्राप्तिमें श्रद्धा मुख्य है।

ऐसा एक तत्त्व या बोध है, जिसका अनुभव मेरेको हो सकता है और अभी हो सकता है—यही वास्तवमें श्रद्धा है। तत्त्व भी विद्यमान है, मैं भी विद्यमान हूँ और तत्त्वका अनुभव करना भी चाहता हूँ, फिर देरी किस बातकी?

विशेष बात

बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो नित्य-निरन्तर विद्यमान रहता है, वह तो प्रिय नहीं लगता और जो निरन्तर ही बदल रहा है, जा रहा है, वह संसार प्रिय लगता है! इसमें कारण यही है कि जिस संसारकी एक क्षण भी

स्थिति नहीं है, जो निरन्तर ही अभावमें जा रहा है, उसे हम स्थायी मान लेते हैं। स्थायी माननेके कारण ही उससे स्थायी सुख लेना चाहते हैं, जो सर्वथा असम्भव है।

सुख लेनेके लिये हम संसारमें अपनापन कर लेते हैं, जो किसी भी कालमें अपना नहीं है। अपनी वस्तु वही है, जो हमसे कभी अलग नहीं होती और जिससे हम कभी अलग नहीं होते। यदि संसार अपना होता, तो प्रत्येक परिस्थिति हमारे साथ रहती। परन्तु न तो परिस्थिति हमारे साथ रहती है और न हम ही परिस्थितिके साथ रहते हैं। इसलिये वह अपनी है ही नहीं। जिन अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे हम संसारको देखते हैं, उन्हें भी हम भूलसे अपनी मान लेते हैं। परन्तु इनपर भी हमारा कोई अधिकार नहीं चलता। अन्तःकरण और इन्द्रियोंसहित सम्पूर्ण संसार प्रलयकी ओर जा रहा है। उसकी स्थिति है ही नहीं।

संसारकी प्रतीतिमात्र होती है, इसलिये इसकी प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती। संसार अपने स्वरूपतक पहुँच ही नहीं सकता, पर स्वरूप सब जगह सत्तारूपसे विद्यमान रहता है। संसारका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, पर अपना अस्तित्व नित्य-निरन्तर रहता है। स्वरूपका अर्थात् अपने होनेपनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। स्वरूप अपरिवर्तनशील है। यदि वह परिवर्तनशील होता, तो संसारके परिवर्तनको कौन देखता? हमें जैसे संसारके निरन्तर परिवर्तन और अभावका अनुभव होता है, ऐसे अपने परिवर्तन और अभावका अनुभव कभी नहीं होता। ऐसा होनेपर भी परिवर्तनशील शरीरके साथ अपनेको मिलाकर उसके परिवर्तनको भूलसे अपना परिवर्तन मान लेते हैं। शरीरके साथ सम्बन्ध मानकर शरीरकी अवस्थाको अपनी अवस्था मान लेते हैं। विचार करें कि यदि शरीरकी अवस्थाके साथ हम एक होते, तो अवस्थाके चले जानेपर हम भी चले गये होते। इससे सिद्ध होता है कि जानेवाली अवस्था दूसरी है और हम दूसरे हैं। इस प्रकारके अपने नित्यसिद्ध स्वरूपका अनुभव होना 'ज्ञान' है।

दूसरी बात, इस उनतालीसवें श्लोकमें 'लभते' पद आया है, जिसका तात्पर्य है—जिस वस्तुका निर्माण नहीं होता, ऐसी नित्यसिद्ध वस्तुकी प्राप्ति। जिस वस्तुका निर्माण होता है अर्थात् जो वस्तु पहले नहीं होती, प्रत्युत बनायी जाती है, उस वस्तुकी प्राप्तिको 'लभते' नहीं कह सकते। कारण कि जो वस्तु पहले नहीं थी तथा बादमें भी नहीं

रहेगी, ऐसी वस्तुकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती। प्रतीति होनेवाली वस्तुको प्राप्त मान लेना अपने विवेकका सर्वथा अनादर है।

जो संसारकी उत्पत्तिके पहले भी रहता है, संसारकी (उत्पन्न होकर होनेवाली) स्थितिमें भी रहता है और संसारके नष्ट होनेके बाद भी रहता है, वह तत्त्व 'है' नामसे कहा जाता है, और 'है' की प्राप्तिको ही 'लभते' कहते हैं। परन्तु जो वस्तु उत्पन्न होनेसे पहले भी नहीं थी और नष्ट होनेके बाद भी नहीं रहेगी तथा बीचमें भी निरन्तर नाशकी ओर जा रही है, वह वस्तु 'नहीं' नामसे कही जाती है। 'नहीं' की प्रतीति होती है, प्राप्ति नहीं। जो 'है', वह तो है ही और जो 'नहीं' है, वह है ही नहीं। 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे मानते हुए 'है' को 'है'-रूपसे मान लेना श्रद्धा है, जिससे नित्यसिद्ध ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।'

'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति'—नवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्ने निषेध-मुखसे कहा है

परिशिष्ट भाव—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'—श्रद्धा-विश्वास और विवेककी आवश्यकता सभी साधकोंके लिये हैं। हाँ, कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें विवेककी मुख्यता है और भक्तियोगमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है। आरम्भमें 'तत्त्वज्ञान है'—ऐसी श्रद्धा होगी, तभी साधक उसकी प्राप्तिके लिये साधन करेगा।

सम्बन्ध—जो ज्ञानप्राप्तिका अपात्र है, ऐसे विवेकहीन संशयात्मा मनुष्यकी भगवान् आगेके श्लोकमें निन्दा करते हैं।

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अज्ञः	= विवेकहीन	संशयात्मनः	= संशयात्मा	न	= न
च	= और		मनुष्यके लिये	परः	= परलोक
अश्रद्धानः	= श्रद्धारहित	न	= न तो		(हितकारक) है
संशयात्मा	= संशयात्मा मनुष्यका	अयम्	= यह	च	= और
विनश्यति	= पतन हो जाता है। (ऐसे)	लोकः	= लोक (हितकारक)	न	= न
		अस्ति	= है	सुखम्	= सुख (ही) है।

व्याख्या—'अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति'—जिस पुरुषका विवेक अभी जाग्रत् नहीं हुआ है तथा जितना विवेक जाग्रत् हुआ है, उसको महत्त्व नहीं देता और साथ ही जो अश्रद्दालु है, ऐसे संशययुक्त पुरुषका पारमार्थिक मार्गसे पतन हो जाता है। कारण कि संशययुक्त पुरुषकी अपनी बुद्धि तो प्राकृत-शिक्षारहित है और दूसरेकी बातका आदर नहीं करता, फिर ऐसे पुरुषके संशय कैसे नष्ट हो सकते हैं? और

कि श्रद्धारहित पुरुष मेरेको प्राप्त न होकर जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें घूमते रहते हैं। उसी बातको यहाँ विधि-मुखसे कहते हैं कि श्रद्धावान् पुरुष परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् मेरेको प्राप्त होकर जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे छूट जाता है।

परमशान्तिका तत्काल अनुभव न होनेका कारण है—जो वस्तु अपने-आपमें है, उसको अपने-आपमें न ढूँढ़कर बाहर दूसरी जगह ढूँढ़ना। परमशान्ति प्राणिमात्रमें स्वतःसिद्ध है। परन्तु मनुष्य परमशान्ति-स्वरूप परमात्मासे तो विमुख हो जाता है और सांसारिक वस्तुओंमें शान्ति ढूँढ़ता है। इसलिये अनेक जन्मोंतक शान्तिकी खोजमें भटकते रहनेपर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंमें शान्ति मिल ही कैसे सकती है? तत्त्वज्ञानका अनुभव होनेपर जब दुःखरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब स्वतःसिद्ध परमशान्तिका तत्काल अनुभव हो जाता है।

संशय नष्ट हुए बिना उसकी उन्नति भी कैसे हो सकती है?

अलग-अलग बातोंको सुननेसे 'यह ठीक है अथवा वह ठीक है?'—इस प्रकार सन्देहयुक्त पुरुषका नाम संशयात्मा है। पारमार्थिक मार्गपर चलनेवाले साधकमें संशय पैदा होना स्वाभाविक है; क्योंकि वह किसी भी विषयको पढ़ेगा तो कुछ समझेगा और कुछ नहीं समझेगा। जिस विषयको कुछ नहीं समझते, उस विषयमें संशय पैदा

नहीं होता और जिस विषयको पूरा समझते हैं, उस विषयमें संशय नहीं रहता। अतः संशय सदा अधूरे ज्ञानमें ही पैदा होता है, इसीको अज्ञान कहते हैं^१। इसलिये संशयका उत्पन्न होना हानिकारक नहीं है, प्रत्युत संशयको बनाये रखना और उसे दूर करनेकी चेष्टा न करना ही हानिकारक है। संशयको दूर करनेकी चेष्टा न करनेपर वह संशय ही 'सिद्धान्त' बन जाता है। कारण कि संशय दूर न होनेपर मनुष्य सोचता है कि पारमार्थिक मार्गमें सब कुछ ढकोसला है और ऐसा सोचकर उसे छोड़ देता है तथा नास्तिक बन जाता है। परिणामस्वरूप उसका पतन हो जाता है। इसलिये अपने भीतर संशयका रहना साधकको बुरा लगना चाहिये। संशय बुरा लगनेपर जिज्ञासा जाग्रत होती है, जिसकी पूर्ति होनेपर संशय-विनाशक ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

साधकका लक्षण है—खोज करना। यदि वह मन और इन्द्रियोंसे देखी बातको ही सत्य मान लेता है, तो वहीं रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता। साधकको निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिये। जैसे रास्तेपर चलते समय मनुष्य यह न देखे कि कितने मील आगे आ गये, प्रत्युत यह देखे कि कितने मील अभी बाकी पड़े हैं, तब वह ठीक अपने लक्ष्यतक पहुँच जायगा। ऐसे ही साधक यह न देखे कि कितना जान लिया अर्थात् अपने जाने हुएपर सन्तोष न करे, प्रत्युत जिस विषयको अच्छी तरह नहीं जानता, उसे जाननेकी चेष्टा करता रहे। इसलिये संशयके रहते हुए कभी सन्तोष नहीं होना चाहिये, प्रत्युत जिज्ञासा अग्नि की तरह दहकती रहनी चाहिये। ऐसा होनेपर साधकका संशय सन्त-महात्माओंसे अथवा ग्रन्थोंसे किसी-न-किसी प्रकारसे दूर हो ही जाता है। संशय दूर करनेवाला कोई न मिले तो भगवत्कृपासे उसका संशय दूर हो जाता है।

विशेष बात

जीवात्मा परमात्माका अंश है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५। ७)। इसलिये जब उसमें अपने अंशी परमात्माको प्राप्त करनेकी भूख जाग्रत होती है और

उसकी पूर्ति न होनेका दुःख होता है, तब उस दुःखको भगवान् सह नहीं सकते। अतः उसकी पूर्ति भगवान् स्वतः करते हैं। ऐसे ही जब साधकको अपने भीतर स्थित संशयसे व्याकुलता या दुःख होता है, तब वह दुःख भगवान्को असह्य होता है। संशय दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, प्रत्युत जिस संशयको लेकर साधकको दुःख हो रहा है, उस संशयको दूर करके भगवान् स्वतः उसका वह दुःख मिटा देते हैं। संशयात्मा पुरुषकी एक पुकार होती है, जो स्वतः भगवान्तक पहुँच जाती है।

संशयके कारण साधककी वास्तविक उन्नति रुक जाती है, इसलिये संशय दूर करनेमें ही उसका हित है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९), इसलिये जिस संशयको लेकर मनुष्य व्याकुल होता है और वह व्याकुलता उसे असह्य हो जाती है, तो भगवान् उस संशयको किसी भी रीति—उपायसे दूर कर देते हैं। गलती यही होती है कि मनुष्य जितना जान लेता है, उसीको पूरा समझकर अभिमान कर लेता है कि मैं ठीक जानता हूँ। यह अभिमान महान् पतन करनेवाला हो जाता है।

'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः'— इस श्लोकमें ऐसे संशयात्मा मनुष्यका वर्णन है, जो 'अज्ञ' और 'अश्रद्धालु' है। तात्पर्य यह है कि भीतर संशय रहनेपर भी उस मनुष्यकी न तो अपनी विवेकवती बुद्धि है और न वह दूसरेकी बात ही मानता है। इसलिये उस संशयात्मा मनुष्यका पतन हो जाता है। उसके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।^२

संशयात्मा मनुष्यका इस लोकमें व्यवहार बिगड़ जाता है। कारण कि वह प्रत्येक विषयमें संशय करता है, जैसे—यह आदमी ठीक है या बेठीक है? यह भोजन ठीक है या बेठीक है? इसमें मेरा हित है या अहित है? आदि। उस संशयात्मा मनुष्यको परलोकमें भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि कल्याणमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी

१-अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव नहीं है। अधूरे ज्ञानको पूरा ज्ञान मान लेना ही अज्ञान है। कारण कि परमात्माका ही अंश होनेसे जीवमें ज्ञानका सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता, केवल नाशवान् असत्की सत्ता मानकर उसे महत्त्व दे देता है, असत्को असत् मानकर भी असत्से विमुख नहीं होता—यही अज्ञान है। इसलिये मनुष्यमें जितना ज्ञान है, यदि उस ज्ञानके अनुसार वह अपना जीवन बना ले, तो अज्ञान सर्वथा मिट जायगा और ज्ञान प्रकट हो जायगा। कारण कि अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं।

२-कुछ श्रद्धा, कुछ दुष्टता, कुछ संशय, कुछ ज्ञान। घरका रहा न घाटका, ज्यों धोबीका श्वान॥

आवश्यकता होती है और संशयात्मा मनुष्य दुविधामें रहनेके कारण कोई एक निश्चय नहीं कर सकता; जैसे— जप करूँ या स्वाध्याय करूँ? संसारका काम करूँ या परमात्मप्राप्ति करूँ? आदि। भीतर संशय भरे रहनेके कारण उसके मनमें भी सुख-शान्ति नहीं रहती। इसलिये विवेकवती बुद्धि और श्रद्धाके द्वारा संशयको अवश्य ही मिटा देना चाहिये।

दो अलग-अलग बातोंको पढ़ने-सुननेसे संशय पैदा होता है। वह संशय या तो विवेक-विचारके द्वारा दूर हो सकता है या शास्त्र तथा सन्त-महापुरुषोंकी बातोंको श्रद्धापूर्वक माननेसे। इसलिये संशययुक्त पुरुषमें यदि अज्ञता है तो वह विवेक-विचारको बढ़ाये और यदि अश्रद्धा है तो श्रद्धाको बढ़ाये; क्योंकि इन दोनोंमेंसे किसी एकको विशेषतासे अपनाये बिना संशय दूर नहीं होता।

परिशिष्ट भाव—ज्ञान हो तो संशय मिट जाता है—‘ज्ञानसंछिन्नसंशयम्’ (गीता ४। ४१) और श्रद्धा हो तो भी संशय मिट जाता है—‘श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्’ (गीता ४। ३९)। परन्तु ज्ञान और श्रद्धा—ये दोनों ही न हों तो संशय नहीं मिट सकता। इसलिये जिस संशयात्मा मनुष्यमें न तो ज्ञान (विवेक) है और न श्रद्धा ही है अर्थात् जो न तो खुद जानता है और न दूसरेकी बात मानता है, उसका पतन हो जाता है।

सम्बन्ध—भगवान्ने तैत्तिरीयसर्वे श्लोकसे ज्ञानयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए ज्ञान-प्राप्तिका उपाय तथा ज्ञानकी महिमा बताया। जो ज्ञान गुरुके पास रहकर उनकी सेवा आदि करनेसे होता है, वही ज्ञान कर्मयोगसे सिद्ध हुए मनुष्यको अपने-आप प्राप्त हो जाता है—ऐसा बताकर भगवान्ने ज्ञानप्राप्तिके पात्र-अपात्रका वर्णन करते हुए प्रकरणका उपसंहार किया।

अब प्रश्न होता है कि सिद्ध होनेके लिये कर्मयोगीको क्या करना चाहिये? इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् । आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

धनञ्जय	= हे धनञ्जय !	हो गया है (और)	आत्मवन्तम्	= स्वरूप-परायण
योगसन्न्यस्त-	= योग (समता)	ज्ञानसञ्छिन्न-	= विवेकज्ञानके	मनुष्यको
कर्माणम्	के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद	संशयम्	द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो गया है, (ऐसे)	कर्माणि = कर्म न = नहीं निबध्नन्ति = बाँधते।

व्याख्या—‘योगसन्न्यस्तकर्माणम्’—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जो वस्तुएँ हमें मिली हैं और हमारी दीखती हैं, वे सब दूसरोंकी सेवाके लिये ही हैं, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं। इस दृष्टिसे जब उन वस्तुओंको दूसरोंकी सेवामें (उनका ही मानकर) लगा दिया जाता है, तब कर्मों और वस्तुओंका प्रवाह संसारकी ओर ही हो जाता है और अपनेमें स्वतःसिद्ध समताका अनुभव हो जाता है। इस प्रकार योग-(समता-)के द्वारा जिसने कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, वह पुरुष ‘योगसन्न्यस्तकर्मा’ है।

जब कर्मयोगी कर्ममें अकर्म तथा अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् कर्म करते हुए अथवा न करते हुए—दोनों अवस्थाओंमें नित्य-निरन्तर असंग रहता है, तब वही

वास्तवमें ‘योगसन्न्यस्तकर्मा’ होता है।

‘ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्’—मनुष्यके भीतर प्रायः ये संशय रहते हैं कि कर्म करते हुए ही कर्मोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कैसे होगा? अपने लिये कुछ न करें तो अपना कल्याण कैसे होगा? आदि। परन्तु जब वह कर्मोंके तत्त्वको अच्छी तरह जान लेता है*, तब उसके समस्त संशय मिट जाते हैं। उसे इस बातका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि कर्मों और उनके फलोंका आदि और अन्त होता है, पर स्वरूप सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इसलिये कर्ममात्रका सम्बन्ध ‘पर’-(संसार-) के साथ है, ‘स्व’-(स्वरूप) के साथ बिलकुल नहीं। इस दृष्टिसे अपने लिये कर्म करनेसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और निष्कामभावपूर्वक

* कर्मोंके तत्त्वका वर्णन इसी अध्यायके सोलहवेंसे बत्तीसवें श्लोकतकके प्रकरणमें विशेषतासे हुआ है। इसमें भी अठारहवाँ श्लोक मुख्य है।

केवल दूसरोंके लिये कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि अपना कल्याण दूसरोंके लिये कर्म करनेसे ही होता है, अपने लिये कर्म करनेसे नहीं।

‘आत्मवन्तम्’—कर्मयोगीका उद्देश्य स्वरूपबोधको प्राप्त करनेका होता है, इसलिये वह सदा स्वरूपके परायण रहता है। उसके सम्पूर्ण कर्म संसारके लिये ही होते हैं। सेवा तो स्वरूपसे ही दूसरोंके लिये होती है, खाना-पीना, सोना-बैठना आदि जीवन-निर्वाहकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भी

दूसरोंके लिये ही होती हैं; क्योंकि क्रियामात्रका सम्बन्ध संसारके साथ है, स्वरूपके साथ नहीं।

‘न कर्माणि निबध्नन्ति’—अपने लिये कोई भी कर्म न करनेसे कर्मयोगीका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् वह सदाके लिये संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है (गीता—चौथे अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

कर्म स्वरूपसे बन्धनकारक हैं ही नहीं। कर्मोंमें फलेच्छा, ममता, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान ही बाँधनेवाला है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने बताया कि ज्ञानके द्वारा संशयका नाश होता है और समताके द्वारा कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। अब आगेके श्लोकमें भगवान् ज्ञानके द्वारा अपने संशयका नाश करके समतामें स्थित होनेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हैं।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वेन संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

तस्मात्	= इसलिये	अज्ञानसम्भूतम्	= अज्ञानसे उत्पन्न	छित्त्वा	= छेदन करके
भारत	= हे भरतवंशी	आत्मनः	= अपने	योगम्	= योग (समता)–में
	अर्जुन!	संशयम्	= संशयका	आतिष्ठ	= स्थित हो जा (और)
हृत्स्थम्	= हृदयमें स्थित	ज्ञानासिना	= ज्ञानरूप	उत्तिष्ठ	= (युद्धके लिये)
एनम्	= इस		तलवारसे		खड़ा हो जा।

व्याख्या—‘तस्मादज्ञानसम्भूतं....छित्त्वेन संशयम्’—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने यह सिद्धान्त बताया कि जिसने समताके द्वारा समस्त कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और ज्ञानके द्वारा समस्त संशयोंको नष्ट कर दिया है, उस आत्मपरायण कर्मयोगीको कर्म नहीं बाँधते अर्थात् वह जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। अब भगवान् ‘तस्मात्’ पदसे अर्जुनको भी वैसा ही जानकर कर्तव्य-कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं।

अर्जुनके हृदयमें संशय था—युद्धरूप घोर कर्मसे मेरा कल्याण कैसे होगा? और कल्याणके लिये मैं कर्मयोगका अनुष्ठान करूँ अथवा ज्ञानयोगका? इस श्लोकमें भगवान् इस संशयको दूर करनेकी प्रेरणा करते हैं; क्योंकि संशयके रहते हुए कर्तव्यका पालन ठीक तरहसे नहीं हो सकता।

‘अज्ञानसम्भूतम्’ पदका भाव है कि सब संशय अज्ञानसे अर्थात् कर्मोंके और योगके तत्त्वको ठीक-ठीक न समझनेसे ही उत्पन्न होते हैं। क्रियाओं और पदार्थोंको अपना और अपने लिये मानना ही अज्ञान है। यह अज्ञान जबतक रहता है, तबतक अन्तःकरणमें संशय रहते हैं; क्योंकि क्रियाएँ और पदार्थ विनाशी हैं और स्वरूप अविनाशी है।

तीसरे अध्यायमें कर्मयोगका आचरण करनेकी और इस चौथे अध्यायमें कर्मयोगको तत्त्वसे जाननेकी बात विशेषरूपसे आयी है। कारण कि कर्म करनेके साथ-साथ कर्मको जाननेकी भी बहुत आवश्यकता है। ठीक-ठीक जाने बिना कोई भी कर्म बढ़िया रीतिसे नहीं होता। इसके सिवाय अच्छी तरह जानकर कर्म करनेसे जो कर्म बाँधने-वाले होते हैं, वे ही कर्म मुक्त करनेवाले हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायका सोलहवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक)। इसलिये इस अध्यायमें भगवान्ने कर्मोंको तत्त्वसे जाननेपर विशेष जोर दिया है।

पूर्वश्लोकमें भी ‘ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्’ पद इसी अर्थमें आया है। जो मनुष्य कर्म करनेकी विद्याको जान लेता है, उसके समस्त संशयोंका नाश हो जाता है। कर्म करनेकी विद्या है—अपने लिये कुछ करना ही नहीं है।

‘योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत’—अर्जुन अपने धनुष-बाणका त्याग करके रथके मध्यभागमें बैठ गये थे (पहले अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। उन्होंने भगवान्से साफ कह दिया था कि ‘मैं युद्ध नहीं करूँगा’—‘न योत्स्ये’ (गीता २। ९)। यहाँ भगवान् अर्जुनको योगमें स्थित

होकर युद्धके लिये खड़े हो जानेकी आज्ञा देते हैं। यही बात भगवान् ने दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (योगमें स्थित होकर कर्तव्य-कर्म कर) पदोंसे भी कही थी। योगका अर्थ 'समता' है— 'समत्वं योग उच्यते' (गीता २। ४८)।

अर्जुन युद्धको पाप समझते थे (गीता—पहले अध्यायका छत्तीसवाँ और पैतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान् अर्जुनको समतामें स्थित होकर युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं; क्योंकि समतामें स्थित होकर युद्ध करनेसे पाप नहीं लगता (गीता—दूसरे अध्यायका अड़तीसवाँ श्लोक)। इसलिये समतामें स्थित होकर कर्तव्य-कर्म करना ही कर्म-बन्धनसे छूटनेका उपाय है।

संसारमें रात-दिन अनेक कर्म होते रहते हैं, पर उन कर्मोंमें राग-द्वेष न होनेसे हम संसारके उन कर्मोंसे बँधते नहीं, प्रत्युत निर्लिप्त रहते हैं। जिन कर्मोंमें हमारा राग या

द्वेष हो जाता है, उन्हीं कर्मोंसे हम बँधते हैं। कारण कि राग या द्वेषसे कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध जुड़ जाता है। जब राग-द्वेष नहीं रहते अर्थात् समता आ जाती है, तब कर्मोंके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जुड़ता; अतः मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

अपने स्वरूपको देखें तो उसमें समता स्वतःसिद्ध है। विचार करें कि प्रत्येक कर्मका आरम्भ होता है और समाप्ति होती है। उन कर्मोंका फल भी आदि और अन्तवाला होता है। परन्तु स्वरूप निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। कर्म और फल अनेक होते हैं, पर स्वरूप एक ही रहता है। अतः कोई भी कर्म अपने लिये न करनेसे और किसी भी पदार्थको अपना और अपने लिये न माननेसे जब क्रिया-पदार्थरूप संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब स्वतःसिद्ध समताका अपने-आप अनुभव हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये कर्मयोग और सांख्ययोगका वर्णन होनेसे इस चौथे अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्म-संन्यासयोग' है।

चौथे अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथ चतुर्थोऽध्यायः' के तीन, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके छः, श्लोकोंके पाँच सौ ग्यारह और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग पाँच सौ तैंतीस है।

(२) इस अध्यायमें 'अथ चतुर्थोऽध्यायः' के सात, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके बीस, श्लोकोंके एक हजार तीन सौ चौवालीस और पुष्पिकाके पचास अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग एक हजार चार सौ इक्कीस है।

इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें तीन उवाच हैं—दो 'श्रीभगवानुवाच' और एक 'अर्जुन उवाच'।

चौथे अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बयालीस श्लोकोंमेंसे—इकतीसवें और अड़तीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा दूसरे, दसवें, तेरहवें और चालीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला'; छठे श्लोकके प्रथम चरणमें 'रगण' प्रयुक्त होनेसे 'र-विपुला'; और चौबीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें तथा तीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष तैंतीस श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।